प्रकाशक
साधना-सदन
प्रयाग
प्रथम मुद्रण : जून १९४६ ई०

इस पुस्तक के लेखक

सिरिल मोडक :

एक उबलता हुआ सोता, जो फूट कर बहना और बहना चाहता है : कलेजे में आग, आँखों में चिनगारी, वाणी में एक चैलेंज का स्वर : अगणित कष्टों के बीच गढ़ा हुआ युवक जो सामाजिक विषमताओं को, वश चले तो, एक ठोकर में चूर कर दे : अंग्रेजी का प्रभावशाली एवं लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक तथा कवि। जीवन के झंझावात में अस्थिर। भारत में जो कुछ प्यार करने योग्य है; शाश्वत है, उसे यों प्यार करनेवाला जैसे बच्चा माँ की गोद का भूखा हो।

उसी लेखक की हिंदी में प्रथम कृति यह

भारत का भाग्य

आपके हाथ में है

मुद्रक
केशवप्रसाद खत्री,
इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०,
प्रयाग।

जवाहरलाल नेहरू

को

जो साम्प्रदायिक कटुता के धुँधले कोहरे से ऊपर हैं

और

सीमातीत विश्व का स्वप्न देखते हैं।

प्रारम्भ

एक ही जीवन में लेखक को कई जीवन बिताने पड़ते हैं; उन्हें कई प्रकार के अभिनय करने होते हैं। हो सकता है, लेखक को कभी ज्योतिषी भी बनना पड़े; परन्तु उसे ज्योतिषी भी उच्चकोटि का होना चाहिए और प्रत्येक विद्वान् ज्योतिषी एक आख्यायिका से आरम्भ करता है।

तृष्णा से व्याकुल एक स्त्री कुएँ पर आ बैठ गई। उसकी लाल साड़ी तथा केसरिया अवगुण्ठन यात्रा से जीर्ण हो, हलके पड़ गये थे और कहीं कहीं फट से रहे थे। उनमें अपनी ओर बरबस ही आकर्षित कर लेने की एक गरिमा भी थी। कदाचित् वह एक गृहविहीना यात्री थी, जो किसी ऐसी वस्तु की खोज में थी, जो उसे नहीं मिल पा रही थी। पर उसके रुपहले केश-कलाप और सुन्दर मुख से एक अपूर्व तेज प्रतिभासित हो रहा था। वह कुएँ पर बैठी अतृप्त लालसा-भरी दृष्टि से उसकी ओर देख रही थी। क्या कोई लोटा-डोरी लिये उधर से निकलेगा और उसके लिए पानी खींच देगा?

उसने देखा खेतों के उस पार, उससे दूर एक युवती जा रही है। वह एक सफ़ेद खादी की साड़ी पहने हुए थी। साड़ी का किनारा केसरिया, सफ़ेद और हरा था। वह अपनी यौवनसुलभ चाल से 'वन्देमातरम्' गाती चली जा रही थी और एक चमकती पीतल की बाल्टी उसके दाहिने हाथों में झूल रही थी। कुएँ पर बैठी स्त्री ने फटे स्वर से पुकारा—"बेटी, प्यास के मारे मेरी जान जा रही है।"

अल्पवयस्का ने उत्तर दिया—"पर, माँ मेरे पास कोई डोर नहीं है।" और वह मुड़कर कुएँ की ओर आई।

ठीक उसी समय दूसरी तरफ़ से एक युवती सफ़ेद सलवार और लाल कुरती पहने जाती हुई दिखाई दी, उसके मुख पर एक हरे रंग का अवगुण्ठन उड़ रहा था। वह इक़बाल का 'हिन्दुस्तान हमारा' गुनगुनाती हुई अपने हाथ की डोर से हरी दूर्बा को ठुकराती चली आ रही थी। जगत पर बैठी हुई स्त्री ने फिर पुकारा—"बेटी! ज़रा मुझे अपनी डोर दे दो। इस बिटिया की बालटी और तुम्हारी डोर से पानी खींच मैं अपनी प्यास बुझा लूँ।" वह बालिका कुएँ के पास चली आई। उसने मीठे स्वर से पूछा—"कितनी देर से कर रही हैं इन्तज़ार आप?" और पहली लड़की ने बालटी में डोर बाँधते हुए कहा—"लो, माँ! एक ही लहमे में आपको पीने का पानी मिल जायेगा। इस कुएँ का पानी बहुत मीठा है।" यह कह कर उसने डोल को कुएँ में डाल दिया।

अब तक वहाँ तीन-चार और स्त्रियाँ आगई थीं। डोल वाली बालिका एकाएक चीख़ उठी—"हे राम! डोर तो पाँच-छः बित्ते छोटी है।" इस पर वहाँ की स्त्रियों ने उपस्थिति जता कर कहा—"लो! लो! हमारे पास दो टुकड़े हैं; इन्हें बाँध लो; तुम्हारे मतलब की पूरी रस्सी हो जायगी।"

ऐसे शुभ समय में एक अपशकुन हो गया। उधर से एक काले घोड़े पर सवार एक गोरी औरत आ निकली। नवागन्तुका ख़ाकी ब्रीचिज़ और सफ़ेद कमीज़ पहने हुए थी। उसने चिल्लाकर कहा—"अरे! तुम लोग यहाँ बालटी और डोर लेकर क्या कर रही हो? इन्हें मेरे हाथ बेच न दो। मैं बालटी के लिए १२ और डोर के लिए १० रुपये दूँगी।" ऐसा कह

कर उसने उन्हें चाँदी के कुछ चमकते हुए सिक्के दिखलाये। —"बोलो, जल्द निर्णय करो। देर हो रही है। और....ये हैं किसकी ?....लो ! देखो, यह है इनकी कीमत।"

उधर प्यास से व्याकुल स्त्री चीख पड़ी—"ओह ...मुझे...थोड़ा सा....पा....नी....!"

पर वे बालिकाएँ सब भूल गईं। एक ने अपनी बाल्टी पकड़ी। दूसरों ने अपने-अपने रस्सी के टुकड़े पकड़े। सवार के सामने खड़ी हो वे सौदा तय करने लगीं। गोरी अश्वारोहिणी ने अपने काले घोड़े को सड़क की ओर किया....और उसके पीछे वे स्त्रियाँ चिल्लाती चलीं—"मेरी रस्सी के लिए मुझे बीस दे दो और उसकी बाल्टी के लिए भी इतना ही दे दो" एक ने कहा। "लेकिन वह पीतल की बाल्टी तो बेशक ज़्यादा कीमती है" घुड़सवार ने कहा और ऐंड़ लगा कर जंगल का रास्ता लिया। फिर भी मोल-तोल करती हुई औरतें उसकी ओर दौड़ीं। कोसती, हाँफती, लड़खड़ाती और बिना जाने कि वे कहाँ जा रही हैं, उसके पीछे भागती रहीं।

अश्वारोहिणी युवती जंगल के छोर पर अपने क़िले में आई और अपने सन्तरी को किसी को भीतर न आने का हुक्म देकर अन्दर चली गई। उन बालिकाओं ने खीझना शुरू किया। उन्होंने पुकारा, लोहे के फाटक पर कुंडी भी खटखटाई, पर वहाँ सिवाय उन्हीं की विषादमय प्रतिध्वनि के और कौन उत्तर था ? सूर्य घड़ी भर पहले डूब चुका था और चारों ओर अँधेरा छाया था। घबड़ा कर वे एक दूसरे से पूछने लगीं—"अब घर कैसे चलेंगे ?" और आपस में झगड़ने लगीं। उन्होंने

एक दूसरे को दोषी ठहराया; एक दूसरे को भद्दी बातें कहीं। उन्होंने लौटना चाहा।....पर अँधेरा हो चुका था।

ठीक उसी प्यास से व्याकुल स्त्री की भाँति आज भारत-माता स्वाधीनता के कुएँ पर बैठी हुई है। कब उसकी जाति रूपी कन्याएँ उस घोड़े पर सवार अश्वारोहिणी का पीछा करके लौटेंगी? वे अपनी मातृ-भक्ति को पूर्णत्व प्रदान करने के लिए कब अपने सारे शारीरिक, मानसिक और नैतिक साधनों को संयुक्त करेंगी? प्रस्तुत पुस्तक उसी भूली राह को ढूँढ़ने का एक प्रयास है, जिसे भूलने के कारण भारत की यह दुर्दशा हो गई है। आज अपनी-अपनी संज्ञाओं, चिह्नों या मतभेदों के बावजूद भी प्रत्येक ईमानदार हिन्दुस्तानी प्रत्येक मारक गत्यवरोध को खत्म कर देना चाहता है। भारतीय इतिहास का एक नया ही अध्याय आरम्भ होना है। "भ्रातृत्व" ही उसका शीर्षक होगा। अनेक बातों में यह बिल्कुल नया होगा। उस युग में समय को प्रत्येक वर्ग और जाति के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करना होगा। वह वातावरण को अन्तर्साम्प्रदायिक विद्वेषों से दूषित न होने देगा। जब तक हममें से कुछ बन्धन में बँधे हैं हम स्वाधीन नहीं हो सकते। यदि हममें से कुछ भी दुखी हैं, हम कदापि सुखी नहीं रह सकते। यदि हममें से कुछ पीछे रोक लिये जाते हैं, तो हम कभी विकास नहीं कर सकते। इतिहास के आनेवाले समय में हमारा यही नारा होना चाहिए।

"सबके लिए स्वतंत्रता,....सब स्वतंत्रता के लिए।"

जबलपुर
ईस्टर, १९४४

—सिरिल मोडक

प्रकाशकीय

श्री सिरिल मोडक सम्प्रदाय की दृष्टि से ईसाई पर विश्वास, भावना और कर्म की दृष्टि से समाजवाद की ओर झुके हुए एक मानवधर्मी भारतीय हैं। भारत की स्वतंत्रता की प्यास से उनकी वाणी विकल है; भारत की पीड़ा और शोषण से उनके रक्त-कण उष्ण हैं; भारत की मिट्टी के कण उनके शरीर, मन, प्राण में उद्‌बुद्ध होकर बोलते हैं। उनके लिए भारत एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं; एक जीवित प्राणी है, जिसकी एक दीर्घकालिक और अनुभूत सामञ्जस्य की सांस्कृतिक परम्परा है। वह भारतीय स्वतंत्रता के साथ इस परम्परा को एक करके देखते हैं।

अंग्रेज़ी में उन्होंने काफ़ी ख्याति प्राप्त की है। उनकी कविताओं से मुर्दे उठ खड़े होते हैं; उनका गद्य हमारे अतीत की ओर इंगित और हमारे वर्तमान की ओर व्यंग करता है। तीखे और चुभते हुए व्यंग और करुणा-प्रधान सूक्ष्म हास्य उनकी अपनी विशेषताएँ हैं। हिन्दी में उन का यह प्रथम प्रकाशन है।

साधना-सदन का क्षेत्र सीमित है, उसके अपने सिद्धान्त हैं। श्री मोडक के अनेक विश्वासों और निष्कर्षों को वह स्वीकार नहीं करता। पर इस पुस्तक में कोई ऐसी बात नहीं है, जो उसके मौलिक विश्वासों पर प्रहार करती हो। इसमें मुख्यतः भारतीय स्वतंत्रता और साम्प्रदायिकता की समस्याओं के कुछ हल सुझाये गये हैं। उनसे चाहे हमारा या किसी का मतभेद हो, वे गंभीर चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

पुस्तक के सम्पादक ने इसे यथासंभव अप-टु-डेट करने की चेष्टा की है।

स्वतंत्रता-स्तवन

[लेखक की एक अंग्रेजी कविता का गद्यानुवाद]

देवि, स्वतंत्रते !
सब राष्ट्र तेरी ही खोज करते हैं,
तूने सभी को मुक्ति का वर दिया है
अपने उस अधिक सच्चे प्रेम से हमारे हृदयों को विशाल कर दे
जिसमें हम विश्वबन्धुत्व के प्रासाद का निर्माण कर सकें।

o o

उस घनाच्छादित गगन से कोई संकेत पाने को
यह पुरातन भारत देश अश्रुप्लावित आँखों से देख रहा है
हे देवि, अपने प्रेममय राजविस्तार का सन्देशवाहक
हमीं को बनने दे।

o o

देवि,
हमारी आँखों का मार्जन कर कि हम अपने बन्धु की आवश्यकताएँ देख सकें
हमारे प्रेम को महत् कार्यों में बोलने—व्यक्त होने—की शक्ति दे
हमारे प्रकाशपूर्ण दिवसों को अन्धकार में निमग्न होने से बचा

o o

देवि, तेरी रक्ताभ पताका की उज्ज्वल चमक से
हम वेदना और व्यथा के बीच कार्य और साहस की शक्ति पायें,
अपनी विजय-ध्वनियों से हम निर्दय प्रहारों को झेल सकें
और रुकावटों को तोड़ते-फोड़ते शत्रु को मिटा दें

o o

इस देश के वीरों की एक बिरादरी के समान
जैसे आनन्द-धवल आत्माओं से जीवन में,
वैसे ही मृत्यु में भी हम खड़े हों
शोषितों की मुक्ति के लिए सब आततायियों को
अधिकारच्युत कर दें
और समस्त विश्व में तेरा विजय-नाद गुँजा दें।

विषय-सूची

[१]

हिन्दुस्तान

सामुद्रिक समय बिताने का एक रोचक साधन है। यह ज्ञान की वृद्धि करता है, और साथ-साथ मनोरंजन भी। यह नैराश्य को मिटा देता है। यह विद्या मनुष्य को भविष्यवाणी करने की शक्ति देती है। आइए, हम भी भारत के भाग्य का उसकी हस्तरेखाओं-द्वारा निरीक्षण करें। उसके शुक्र काफ़ी शक्तिमान हैं जिससे मालूम होता है कि सदा ही विदेशी उसके सौन्दर्य के आगे सिर झुकायेंगे। उसके बृहस्पति से यह पता चलता है कि यद्यपि उसे विदेशी शासन की यातनाएँ काफ़ी समय तक बर्दाश्त करनी पड़ेंगी फिर भी अन्त में वह अपने विजेताओं को परास्त कर देगा। उसकी आयु-रेखा बड़ी सन्तोषजनक है। उससे अतीत के दो स्वर्णयुगों—संभवतः चंद्रगुप्त एवं अकबर—का पता लगता है। वह एक ऐसे अटूट युग की ओर भी संकेत कर रही है जिसके अन्तर्जातीय सम्मिश्रण, सांस्कृतिक सामञ्जस्य, भाषा-सम्बन्धी ऐक्य और साम्प्रदायिक सहयोग के द्वारा एक परिपूर्ण राष्ट्र-संघटन का विकास होगा, जो उसके दीर्घकालिक और घटना-पूर्ण जीवन के लिए मुकुट-स्वरूप होगा।

हम लोग इतिहास को उकता देने वाली तिथियों, राजाओं की कहानियों, व्यर्थ की लड़ाइयों और ऊपर से फ़िजूल की सन्धियों की ही परम्परा के रूप में पढ़कर उसमें निहित शिक्षा और स्फूर्ति को खो देते हैं। परन्तु यदि इसके विपरीत हमारे गाँवों के शिक्षक और कालेजों के

अध्यापक उसी विद्या को प्रगतिशील सामाजिक क्रिया-प्रक्रियाओं के विज्ञान के रूप में समझने में हमें सहायता दें ; यदि उसके द्वारा समाज में श्रम, आकांक्षा, संघर्ष और सिद्धि के इतिहास पर प्रकाश डालें और दिखायें कि हम सदैव नई-नई समस्याओं का सामना करते रहे हैं, सदैव अपरिचित शक्तियों से लोहा लेते रहे हैं और प्रगतिशील तत्त्वों को ग्रहण कर सदा विकसित होते रहे हैं तो हमें भारतीय इतिहास से केवल चेतनापूर्ण जीवन ही नहीं वरन् एक क्रमबद्ध शृङ्खला भी प्राप्त होगी। उसमें समाज के ऐतिहासिक विकास का विचित्र धारा-प्रवाह मिलेगा और तब हम भारतीय इतिहास के अध्ययन को हिन्दू भारत, मुस्लिम भारत और बृटिश भारत में बाँटने की भूल न करेंगे। उस समय हमारे सामने भारत के इतिहास के अध्ययन का वह रूप होगा, जिसमें भारतवासियों के जीवन-संघर्षों और प्रतिक्रियाओं की गाथा होगी—वह गाथा, जिससे प्रकट होगा कि उन्होंने सदैव नई समस्याओं के आने पर कभी प्रबल और कभी दुर्बल अवरोध किया ; तब हमें उन सब प्रक्रियाओं और संघर्षों के पीछे एक अमिट लक्ष्य भी दिखाई देगा।

हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का आरम्भ

हम देखते हैं कि रूढ़िवादी इतिहासज्ञों ने अपनी पाठ्य-पुस्तकों में हमें हमारे बारे में सत्य नहीं बताया। पहला सत्य तो यह है कि हम एक अत्यधिक मिश्रित जाति हैं। हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क तक आज से बारह शताब्दियों पूर्व आरम्भ हुआ था। वह उस समय आरम्भ हुआ जब हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तान था। यह सम्पर्क पारस्परिक मैत्री के वातावरण में आरम्भ हुआ था। आगन्तुक नये अरबों से हिन्दू व्यवसायियों ने मित्रता स्थापित की। धार्मिक अत्याचारों से भागे हुए मुस्लिम शरणार्थियों को भारत में आश्रय और आतिथ्य मिला। आठवीं शताब्दी के पूर्वांश में इराक़ का गवर्नर हज्जाज बिन युसुफ़ ऐसा निर्दयी निकला कि स्वयं मुसलमान ही उसके धार्मिक अत्याचारों के कारण उसे घृणा करने लगे थे।

उसके अत्याचारों से तंग आकर हाशम परिवार के कुछ लोगों को सदैव के लिए अपनी मातृभूमि छोड़नी पड़ी। उनमें से कुछ भारत के पश्चिमी तट पर, कोंकन में उतरे; और कुछ कुमारी अन्तरीप में। कोंकन में उतरनेवाले यात्रियों के वंशज 'नेवायत' नाम से प्रसिद्ध हैं और कुमारी अन्तरीप वालों के वंशज 'लेब्स' नाम से। [1]ये दोनों ही वंश अन्तर्जातीय विवाह के फल, अतएव हिन्दू-मुस्लिम सम्मिश्रण, के परिचायक हैं।

धीरे-धीरे मुस्लिम प्रभाव बढ़ने लगा। दक्षिण भारत में हिन्दुओं ने मुसलमान व्यवसायियों का अधिक स्वागत किया। उनको बसने आदि के लिए ज़मीनें और अन्य सुविधाएँ दी गईं। इतिहास से किसी ऐसी बात या घटना का पता नहीं चलता, जिसमें मुसलमानों को उनके धर्म-पालन में कोई अड़चन डाली गई हो। मुसलमानों ने भी अपनी ओर से काफ़ी शिष्टता का व्यवहार किया। यद्यपि उनके धर्म-प्रचारक ज़ोरों के साथ प्रचार करने में संलग्न रहते थे, फिर भी इसके कारण दोनों जातियों में किसी प्रकार की फूट न हो सकी थी। आश्चर्य की बात है कि जहाँ नम्बूद्री ब्राह्मण के साथ एक नायक को बैठने की आज्ञा न थी, तहाँ उनके बराबर एक मुसलमान बैठ सकता था।

मलाबार-नरेश की मक्का-यात्रा

नवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश में, कोडुंगलर में राज्य करने वाले, मलाबार के अन्तिम चेरामन पेरूमल वंश के राजा ने इस्लाम धर्म अंगीकार किया। कहा तो यह जाता है कि इस्लाम धर्म ग्रहण करने के पश्चात् वह अरब गये। 'शहेर' पर उतरने के पश्चात् उन्होंने शरफ़ इब्न मलिक, और अपने घर के कुछ लोगों को राज्य के बारे में कुछ आदेश देकर भेजा। उसमें उन्होंने अपनी प्रजा को मुसलमानों के

---

[1]राइस : 'मैसूर एंड कुर्ग', पृष्ठ ३१२

प्रति शिष्ट व्यवहार बनाये रखने का आदेश दिया। वह स्वयं कभी न लौटे। पर आज भी राजतिलक के दिन तलवार धारण करते समय त्रावनकोर के महाराज यह प्रतिज्ञा करते हैं :—"जब तक चाचा जी मक्का से न लौट आयेंगे, मैं उनकी तलवार धारण करूँगा।"[1] मलाबार के मुसलमान 'मापिल' कहलाते थे। आज के मोपला कदाचित् उन्हीं के वंशज हैं। मलाबार तट पर उस समय ग्यारह मस्जिदें बनी थीं। बिना किसी अड़चन या रुकावट के अरब सौदागर वहाँ बसते गये। उन्होंने ज़मोरिन की शक्ति-वृद्धि में सहायता दी, ज़मोरिन को धन-प्राप्ति के नये मार्ग बताये ; उसके हमलों में मदद दी और उसके लिए युद्ध में लड़ने से भी पीछे न रहे।

मस्जिद को जागीर

एक हिन्दू राजा के मस्जिद दान देने का सर्वप्रथम उदाहरण मदुरा में मिलता है। गोरीपलायन गाँव में एक मस्जिद है। उसके लिए ग्यारहवीं शताब्दी में कुण पंड्या ने ६ गाँवों का दान किया था ताकि मन्दिरों की भाँति यह मस्जिद भी उस जायदाद की आमदनी से चल सके। वीरप्पा नायकम् के ज़माने में इस दान की कठोर जाँच हुई और १५७३ ई० में दान-पत्र मुस्तक़िल किया गया।[2] हम यह भी देखते हैं कि विजयनगर के शासकों और पड़ोस के मुसलमानों में एक दूसरे के धर्म तथा संस्कृति के प्रति विचित्र आदरभाव तथा सहिष्णुता थी—और यह उस अवस्था में जब दोनों जातियों के राजाओं में निरन्तर युद्ध हो रहा था। अहमदनगर के आदिलशाही और निज़ामशाही शासकों ने मुक्त हृदय से मराठा सरदारों को संरक्षण दिया ; अपने शासन-प्रबन्ध

---

[1] ताराचंद : 'इनफ्लुएंस ऑव् इस्लाम ऑन् इंडियन कल्चर', पृष्ठ ३५

[2] नेल्सन : 'मदुरा', पृष्ठ ६६

के लिए हिन्दू अफ़सरों को अपनाया तथा हिन्दू टुकड़ियों को अपनी सेना में रखा था। इसके उत्तर में विजयनगर के हिन्दू राजा मुसलमान टुकड़ियों को सेना में रखते थे और उनके नमाज़ के लिए मस्जिदें भी बनवाते थे। वे मुसलमान सौदागरों को भी प्रोत्साहन देते थे। उसी शताब्दी के अन्तिम भाग में कैम्बे में चन्द हिन्दू गुंडों ने मुसलमान सौदागरों के एक दल पर हमला किया और एक मस्जिद को क्षति पहुँचाई। सिद्धराज (१०६४-११४३) ने इस दुःखद मामले की खुली जाँच करवाई और अपराधियों को कड़ी सज़ा दी। उसने एक नई मस्जिद बनवाने के लिए काफ़ी धन भी दिया।[1] इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ऐसी घटनाएँ फिर न हुईं। हम हैरान हैं कि 'हिन्दू महासभा' और 'मुस्लिम-लीग' के तीव्र और द्रुत वक्ताओं को भारतीय इतिहास की इन घटनाओं का परिचय है या नहीं। इसीलिए किसी भी राजनीतिक वक्ता के लिए—चाहे वह साम्प्रदायिक संस्था का अध्यक्ष हो, भारत-सचिव हो या वायसराय अथवा गवर्नर—गहरा ऐतिहासिक ज्ञान अनिवार्य है।

हिन्दू शासकों की मुस्लिम सेना

जिस तरह दक्षिण भारत के हिन्दू और सिंहल द्वीप के बौद्ध राजाओं ने, मुसलमानों के प्रति एक अधिक प्रगतिशील और सहिष्णु नीति का अवलम्बन किया, उसी प्रकार मुसलमान भी अपनी राजनिष्ठा और सौजन्य से विश्वासपात्र बने और शीघ्र ही सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में उन्होंने उच्च-पदों को भी प्राप्त किया। उनके नेता हिन्दू राज्यों में मंत्री, सेनाध्यक्ष, जल-सेनापति, राजदूत आदि बने। उनमें कई तो हिन्दू राजाओं की अधीनता और संरक्षण में रजवाड़े भी बने। मार्कोपोलो के यात्रा-विवरण में हमें एक तक़ीउद्दीन नामक राजा सुन्दर पंड्या के सलाहकार और उपमंत्री का वर्णन मिलता है। अंग्रेजी कवि

---

[1] इलियट : 'हिस्ट्री ऑव इंडिया', भाग २, पृष्ठ १६४

कालरिज ने जिस कुबला खाँ को काव्य में अमर कर दिया है, उसके राजदरबार में फ़खरुद्दीन पंड्या राज्य का राजदूत था। राजा वीर बल्लाल के पास २०,००० मुसलमान सिपाहियों की सेना थी। अनेक हिन्दू शासकों ने मुसलमानों को सेना में नियुक्त किया था। सोमनाथ के शासक की सेना में अनेक मुसलमान अफ़सर थे। अहमदाबाद के कस्बाती जन अपनी उत्पत्ति बघेल राजाओं की नौकरी में नियुक्त खुरासानी सिपाहियों से बतलाते हैं।[1] दूसरी ओर महमूद ग़ज़नी के पास भी हिन्दू सैनिकों का एक प्रबल दल था, जिसने उसकी ओर से मध्य-एशिया में युद्ध किया था। उसके प्रसिद्ध हिन्दू सेना-नायक 'तिलक' ने नियाल्तगीन नामक मुस्लिम सेनानी के विद्रोह का दमन किया था। हमें हिन्दू-बौद्ध संघर्ष के तो कई उदाहरण मिलते हैं पर इस युग में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का कहीं पता नहीं लगता।

देश के उत्तरी भाग में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क भिन्न रूप में हुआ। आठवीं शताब्दी में मुहम्मद-बिन-क़ासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया। उस समय सिन्ध के बौद्ध शासक वहाँ के ब्राह्मणों से रक्तात्मक लड़ाई लड़ रहे थे। इसलिए स्वभावतः, उन्हें मुसलमानी आक्रमण दैवी-सा मालूम पड़ा। बौद्ध मुसलमानों से मिल गये। सिन्ध को पराजित करने में उन्होंने पूरी मदद दी। विजयी सेना सिन्धु की घाटी की ओर बढ़ी और शीघ्र ही सिन्ध और मुलतान को खलीफा के अधीन कर लिया। पर आक्रमण-कारी इसके आगे न बढ़े। वे ३०० वर्षों तक उन्हीं भागों को लेकर सन्तुष्ट रहे। प्रायः अच्छे पड़ोसी भी रहे। निकट के हिन्दू शासकों ने भी उनसे वही उदारतापूर्ण व्यवहार किया, जिसके लिए भारत प्रसिद्ध है। गुजरात के वल्लभी शासक बाल्हर की सुलेमान, मसूदी, इब्न हौकल और अबूजैद ने एक स्वर से प्रशंसा की। सुलेमान लिखता है:—"बाल्हर के समान अरबों

[1] फार्बस : रासमाला, भाग १, पृष्ठ २७६

को प्यार करने वाला कोई भी शासक नहीं है। उसकी प्रजा भी उसके उदाहरण पर चलती है। उसके राज्य में इस्लाम पूर्णरूप से सुरक्षित और सम्मानित है। जगह-जगह मस्जिदें आदि हैं, जहाँ मुसलमान अपनी पाँचों नमाजें पढ़ सकते हैं।"[1] यह अत्यन्त सुखद बात है कि एक ऐसा भी समय था जब दूसरे मतावलम्बियों के साथ हम उदार व्यवहार रखते थे, जब हिन्दू मुसलमानों का आदर कर उनकी रक्षा कर सकते थे, और यह कि मुसलमानों के ढंग भी ऐसे थे कि ऐसे व्यवहार के पात्र बन सकें। ११ वीं शताब्दी में इदरीसी ने लिखा था :—"अनिलवाड़ा में प्रायः मुसलमान व्यापारी व्यवसाय करने जाया करते हैं। वहाँ के राजा और मंत्री उनका आदरपूर्वक स्वागत करते हैं, उन्हें वहाँ शरण भी प्राप्त होती है।" अंगरेजों के आने के पूर्व, दोनों जातियों को एक दूसरे पर पशु की भाँति टूटने से विरत रखने के लिए विदेशी बन्दूकों की आवश्यकता न पड़ती थी। वे जानती थीं कि एक दूसरे के साथ कैसे रहना चाहिए।

खलीफा के राज्य में हिन्दुओं का आदर

यदि मुसलमानों को हिन्दुस्तान में शरण और सौहार्द्र मिला तो खलीफ़िस्तान में, जहाँ खलीफ़ाओं का राज्य था, हिन्दुओं को भी यथेष्ट आदर मिला। प्रारंभिक उम्मयदों के अधीन बसरा में अनेक हिन्दुओं को सरकार के आर्थिक विभाग तक में उच्च पद मिला। खलीफ़ा ने हिन्दुओं को सीरिया में और विशेषतः अन्तियोख में उपनिवेश स्थापित करने को प्रोत्साहित किया। हज्जाज ने काशगर में हिन्दुओं के लिए उपनिवेश स्थापित किया। जीन पेरियर कहता है :—"काली आँखों वाले, जैतूनी रंग के हिन्दुओं से खलीफ़िस्तान के सब नगर भर से गये थे।" स्मरण रहे कि खलीफ़िस्तान के पूर्वी हिस्से, (खुरासान अफ़गानिस्तान, सिस्तान, अथवा बलूचिस्तान) मुसलमान होने के पूर्व

---

[1] इलियट : हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग १ पृष्ठ २०

बहुत दिनों तक बौद्ध या हिन्दू थे। उन केन्द्रों में भारतीय प्रभाव का समाहित हो जाना ही अनिवार्य था। बलख में एक बड़ा प्रसिद्ध विहार भी था जो नव-विहार या नव-बहार नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ का प्रधान भिक्षु बारमुख कहलाता था जो कदाचित् परामुख का अरबी पर्य्याय है।[1] उसके वंशज अब्बासी खलीफ़ाओं के प्रसिद्ध (बारमकाइद) मंत्री थे। बहुत से इतिहासज्ञों ने हारूँ-अल-रशीद के दरबार में बारमुख वंश के प्रभाव को स्वीकार किया है। बग़दाद में हिन्दू धर्म पर प्रवचन करने के लिए हिन्दू पंडितों को आमंत्रित किया जाता था। अरबी में अनुवादित की जाने वाली पहली पुस्तकें ब्रह्मसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्त की 'नक्षत्र विज्ञान' हैं; बाद में ज्योतिष, वैद्यक, और गणित की पुस्तकें अनूदित हुईं।

हिन्दू-ज्ञान का स्वागत

जब हिन्दू मुसलमानों में परस्पर ऐसी उदारता का भाव था तब ११वीं शताब्दी में अलबेरूनी भारत में आने को उत्सुक हुआ तो इसमें क्या आश्चर्य? उसकी जिज्ञासा पूर्णरूप से तृप्त हुई। हिन्दू-विज्ञान-स्रोत में उसने जी भर प्यास बुझाई। अलबेरूनी-लिखित 'भारत' पढ़ने में बहुत सुख मिलता है, भारत के भविष्य की आशा पुनः जाग्रत हो उठती है; भारतीयों के मतभेदों के अन्तस्तल में भी जो अटूट ऐक्य है, उसके प्रति विश्वास बढ़ता है। अलबेरूनी ने 'भारत के १०३० ई० के रीति-रिवाजों का, धर्म, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, नक्षत्र-विज्ञान, आदि का उल्लेख किया है। उसने कपिल के सांख्य और पतञ्जलि के योग सूत्रों के सर्वप्रथम प्रामाणिक अनुवाद अरबी में किये। उसीने मुस्लिम संसार को सर्वप्रथम श्री मद्भगवद्गीता से परिचित कराया। यह सच है कि बौद्ध साहित्य का कुछ अनुवाद अरबी में दो शताब्दी पूर्व हो चुका था, जिनमें से दो किताबें— 'किताब-अल-बुद्ध' और 'बिलाह्वर-वा-बुदासिफ़' प्रमुख हैं। परन्तु अधिकांश

---

[1] निकोलसन : 'ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑव दि अरब्स', पृ० २५६

अनुवाद बाद में हुए, जिसमें 'सिन्ध हिन्द' या सिद्धान्त, 'शुश्रुद' (सुश्रुत) 'सिराक' (चरक), कालिलाहदमनह या पंचतंत्र और 'विद्पा' (हितोपदेश) और सैन्य-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, तर्क एवं नीति शास्त्र पर अन्य पुस्तकें हैं।* स्वतन्त्र युग में हिन्दू-मुस्लिम जातियों के पारस्परिक सौहार्द ,एवं आदान-प्रदान के ये लक्षण आधुनिक दो राष्ट्रों में भारत को बाँटने के मत को केवल उपहासास्पद सिद्ध करते हैं।

किसी भी देश में विद्वज्जन, दार्शनिक एवं कवि उस समय तक जाकर नहीं बसते, जब तक वे उस देश-विशेष के वातावरण से आकर्षित नहीं होते। अरब और फ़ारस के मुसलमानों को मालूम था कि हिन्दुस्तान के पास एक उज्ज्वल ज्ञान-भाण्डार है। उन्हें यह भी मालूम था कि हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति आदर-भाव है, अन्यथा विख्यात् विद्वज्जन और विचारक ११वीं शताब्दी के बाद बराबर अपना देश छोड़ भारत में प्रवेश करने का दुस्साहस न करते। ग़ज़नी के प्रतिष्ठित नागरिक तथा 'कशफुल महजूब' के लेखक अलहुजविरी लाहौर आये और वहाँ मृत्यु पर्यंत सन् १०६३ तक रहे। 'मन्तिक़-उत-तायर' के लेखक तथा सुप्रसिद्ध रहस्यवादी कवि फ़रीद-उद्दीन अत्तार भारतवर्ष में १२वीं शताब्दी में आये। विख्यात् में संत ख्वाजा मुईन उद्दीन चिश्ती ११६७ में भारत आये और मृत्यु-पर्यंत अजमेर में रहे। १३वीं शताब्दी में जलालउद्दीन रूमी, जिन्हें सर मुहम्मद इक़बाल 'रूम के गुरु' कहते थे, आये और पूरे उत्तरी भारत का भ्रमण किया। जलालउद्दीन तबरेजी ने बंगाल की यात्रा की। १२४४ में जलालउद्दीन बुखारी भावलपुर में, और बाबा फ़रीद पाकपट्टन में बस गये। साधुता, विद्वत्ता, महत्ता, कविता आदि के लिए प्रसिद्ध अनेक मुसलमानों ने अपना देश छोड़ भारत में ही घर बनाना अधिक अच्छा समझा और भारत में शान्ति का जीवन व्यतीत करते हुए ज़िन्दगी भर हिन्दू-मुस्लिम

---

* देखिए फ़्लुगेल की 'फेहरिस्त'।

सामञ्जस्य का सफल प्रयास किया। उसी प्रयास का फल हमें अकबर के शासन-काल में उज्ज्वल रूप से मिलता है और जो एक बार फिर राष्ट्रीय सरकार के युग में चमक उठेगा।

ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती ने इस ऐक्य के बारे में विचित्र रूप से प्रयत्न किया और सहयोग दिया। उन्होंने हुसैनी ब्राह्मण नामक एक सम्प्रदाय निकाला। ये हिन्दुओं की शिवरात्रि और मुसलमानों के रमज़ान में व्रत रखते थे, और ईद और रामनवमी में दावत इत्यादि भी देते थे। पुरुष मुसलमान वेश-भूषा पहनते थे और स्त्रियाँ मस्तक पर सिन्दूर धारण करती थीं। ऐसे इस्लामी हिन्दू या मियाँ ठाकुर किसी पाकिस्तान या हिन्दू हिन्दुस्तान के नागरिक न हो सकेंगे। खोजा, छज्जू पंथी, और गुजराती काका लोगों की भी दशा इन्हीं की तरह होगी। ये विकास के प्रतीक हैं। उनकी माँग ऐसे हिन्दुस्तान में रहने की है जो साम्प्रदायिक घेरों से अलग हो।

हुसैनी ब्राह्मण

राष्ट्रीय ऐक्य के लिए अकबर के प्रपौत्र दारा ने जान दे दी। उसने वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन किया और अनेक हिन्दू साधु-संन्यासियों के बीच रहा। गहरी तैयारी के बाद उसने उपनिषदों का सुन्दर अनुवाद 'सिर्र-ई-अकबर' (महान रहस्य) के नाम से फ़ारसी में किया। इस पुस्तक की भूमिका 'ॐ श्रीगणेशायनमः' जैसी कट्टर हिन्दू परम्परा से शुरू होती है। वह लिखता है कि उपनिषद ही सबसे प्राचीन और अपौरुषेय ग्रन्थ हैं, और ये ही अद्वैतवाद के उद्‌गम हैं। ऐसा लिखकर वह 'क़ुरआन' की एक आयत उद्धृत करता है, जिसका आशय है कि 'यह वह पवित्र क़ुरआन, सुरक्षित ग्रन्थ, है इसे सिवा किसी पवित्र आत्मा के और किसी को न छूना चाहिए। विश्व के विधाता का यह प्रकट स्वरूप है।' दारा की यह धारणा है कि इस आयत में 'पवित्र क़ुरआन' शब्द उपनिषदों के बारे में चारतार्थ हुआ है। उसके अनुवादों में अधिक महत्त्वपूर्ण, श्री मद्‌भगवतगीता, रामायण और योग-वाशिष्ठ हैं।

दारा की सेवाएँ

पर उसकी इनसे भी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है—'मजमा-उल-बहरायन' (दो समुद्रों का संगम) जिसमें वह मुसलमानों की कट्टरता का खंडन करते हुए लिखता है कि हिन्दू-मुसलमान रहस्यवाद का अन्तर केवल शाब्दिक है। मूलतः दोनों एक ही हैं। उसने यह पुस्तक उलमा (मुसलमान धर्मज्ञों) के सम्मुख रखी। उन्होंने इस पर बहुत नाक-भौं सिकोड़ी; उसे केवल प्रलाप समझ उसके राजकुमार लेखक को मृत्युदण्ड दिया। औरंगज़ेब ने भी अपनी सामान्य कट्टरता के साथ इस फ़ैसले के तामील की इजाज़त दे दी। इस तरह राजकुमार दारा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की साधना में अपनी बलि देनेवाला एक अमर शहीद है।

औरंगज़ेब फ़सादी आदमी था; दारा संस्कृति का प्रेमी और भक्त। अपनी युवावस्था में औरंगज़ेब दुरभिसन्धिपूर्ण था और बाद में कुटिल; दारा ज्ञान का प्रेमी था। औरंगज़ेब परिधियों का निर्माण करता रहता था; दारा ऐक्य खोजता था। औरंगज़ेब आध्यात्मिक रूप से जिन्ना साहब का पूर्वज था और दारा सीमाप्रान्त के गांधी और मौलना आज़ाद का पूर्वज। औरंगज़ेब की ही नीति के कारण मुस्लिम साम्राज्य का ध्वंस हुआ; दारा की आत्मा और भावना भारत के भावी राष्ट्रीय ऐक्य की प्रतीक्षा कर रही है।

हिन्दू रहस्यवाद और मुसलमानी सूफ़ीवाद में गहन एकता देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता। क्योंकि अनेक ऐतिहासिक कारणों-द्वारा हिन्दू-मुसलमानों ने एक दूसरे को प्रभावित किया है, जिससे उनके अन्दर भ्रातृत्व का एक गहरा सम्बन्ध हो गया है। आज कदाचित् दारा की 'मजमा-उल-बहरायन' को लोग अधिक समझ सकेंगे और उसकी प्रशंसा भी कर सकेंगे। हाल में बंगाल की रायल एशियाटिक सुसाइटी से उस पुस्तक का अँगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। विस्तार में न जाकर, संक्षेप ही में हम उसके विचारों की समीक्षा करते हैं। सूफ़ी 'मुरीद' को उसी भाँति

तसव्वुफ़ और वेदान्त का साम्य

एक पीर की आवश्यकता होती है जिस प्रकार हिन्दू भक्तों को एक गुरु की; जो उसे भगवद्भक्ति के रहस्य से परिचित कराये। सूफ़ी परमात्मा का निकट सम्बन्ध वेदान्तवाद के 'ब्रह्म' से है। सूफ़ियों का 'वहदत-उल-वजूदिया' अद्वैत के समकक्ष है। इसी तरह 'शुहुदिया' का एक भाव हमें विशिष्टाद्वैत में मिलता है। सूफ़ियों के 'तनज्जुल' के अन्दर हमें हिन्दू विचारों के अन्तर्गत 'लीला' भाव की झलक मिलती है, जिसके द्वारा परब्रह्म विभिन्न रूपों से मनुष्य-योनि में अवतरित होता रहता है। हिन्दू योग के चक्रों की ही भाँति सूफ़ीवाद में भी 'लतायफ़' हैं। सूफ़ियों का 'फ़ना' लक्ष्य हिन्दुओं के मोक्ष के समान है। 'भक्ति' की भाँति सूफ़ी धर्म भी आत्मनिवेदन का उत्कट स्वरूप है। भक्त की तरह सूफ़ी के भी भाव व्यक्त करने के साधन नृत्य, गान तथा कविता आदि हैं। दोनों का लक्ष्य परब्रह्म-मिलन है। जिस तरह भक्ति-परम्परा ने एक साधारण हिन्दू के जीवन को रँग डाला है, उसी प्रकार सूफ़ी धर्म ने साधारण मुसलमानों के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया है। जो कुछ हो मालूम यही होता है कि दारा के दो सिन्धुओं का संगम अब नज़दीक आ रहा है।

'सूफ़ियों के अनुसार हिन्दू धर्म' नामक लेख में मौलवी अब्दुलवलीख़ाँ साहब ने कुछ रोचक बातें लिखी हैं। उसमें मिर्ज़ा जाने-जनाँ के उद्धरण अत्यन्त बहुमूल्य हैं। मिर्ज़ा स्वयं एक अद्वितीय विद्वान और पहुँचे हुए साधु थे। अपने एक शिष्य को हिन्दू-धर्म के बारे में लिखते हुए आप कहते हैं :—

"तुम्हें जानना चाहिए कि हिन्दुओं के सनातन ग्रन्थों से यह मालूम होता है कि सृष्टि के पूर्व ईश्वरीय 'दया' ने एक वेद (वेद) नामक पुस्तक को, जो कि चार भागों में है तथा जिसमें मनुष्य के इहलोक और परलोक के कर्त्तव्यों का विधान, तथा भूत और भविष्य का विस्तृत ज्ञान एक स्वर्गिक आत्मा-द्वारा कथित है, जिसका नाम ब्रह्म है, जो सर्वशक्तिमान्

है और विश्व के परे है, भेजा।" उसी पत्र में आगे कहते हैं :—"कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है जहाँ कोई उद्धारक न गया हो........प्रत्येक जाति का एक रसूल होता है........भारत में भी रसूल थे जिनका वर्णन उन पोथियों के अन्दर मिलता है। उनके लक्षणों से प्रत्यक्ष है कि उन्होंने (भारतीयों ने) उच्च और पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। विश्व की उस अलौकिक दया ने अपने द्वारा बनाये प्राणियों के भले के लिए ही इतने बड़े देश को भी नहीं छोड़ा।"*

एक विदेशी मिशनरी ने अपने एक व्याख्यान में कहा था—"मेरा सबसे अधिक ध्यान स्टेशनों पर हिन्दू पानी, मुस्लिम पानी, हिन्दू चाय और मुस्लिम चाय पर आकृष्ट हुआ था।" परन्तु यदि वह

'बीबी पाकदामन'

मिशनरी ताजमहल के उत्कृष्ट ज्योत्स्नामय सौन्दर्य्य के प्रति नहीं आकर्षित हुआ तो यह किसकी गलती थी? उन असंख्य स्मारकों के मदमत्त कर देने वाले अद्वितीय सौन्दर्य के प्रति उसका ध्यान नहीं आकर्षित हुआ जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के सम्मिलित श्रम के फल-स्वरूप उपस्थित हैं, जो अनेक साधु या विद्वानों की स्मृति में, शहीदों के शौर्य्य की स्मृति में निर्मित हुए थे या जो अद्वितीय सुन्दर रमणियों के अमर आत्मिक सौन्दर्य्य की स्मृति में निर्मित हुए थे, जो सब गर्व से आज भारत की भूमि में शयन कर रही हैं। लाहौर में 'बीबी पाकदामन' (सती स्त्रियाँ) नामक एक स्तूप है, उसके बारे में यह किंवदन्ती प्रचलित है। जिस समय ६८० ई० के मुहर्रम में मैदाने कर्बला में यज़ीद की सेना से हुसैन बहुत त्रस्त हो गये, उन्होंने अली के घराने की ६ स्त्रियों को शिविर छोड़ भारत में आश्रय खोजने का आदेश दिया। उनमें अली की पुत्री बीबी हज उर्फ़ रुक़िया थीं और बाक़ी अली के भाई

---

* जर्नल ऐंड प्रोसीडिंग्स ऑव् एशियाटिक सोसायटी ऑव् बंगाल भाग १९, १९२३ नं० ७, पृष्ठ २४३

आक़िल की लड़कियाँ—बीबी हूर, बीबी नूर, बीबी गौहर और बीबी ताज थीं। बड़े संकटमय सफ़र के बाद वे लाहौर पहुँचीं। इनके आगमन का समाचार सुनकर हिन्दू राजा ने उन्हें सादर महल में लिवा लाने के लिए अपने लड़के को भेजा। उन्होंने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया; पर राज-कुमार आग्रह पर अटल रहा। इस पर ताज बीबी ने उसे ऐसी दृष्टि से देखा कि वह मूर्छित हो गया। होश आने पर उसने अपनी बेअदबी के लिए क्षमा-प्रार्थना की और उनसे उनका धर्म सीखने की इच्छा प्रकट की। जब उनका देहावसान हुआ तब उसने उन सब के लिए ६ मक़बरे बनवाये और स्वयं फ़क़ीर हो उन मक़बरों का मुजाविर (रक्षक) हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसी पाकदामन में उसके लिए एक सातवाँ मक़बरा बनवाया गया। हम लोग इस पूरी कथा पर विश्वास भले ही न करें पर कम से कम यह एक परम्परा की द्योतक है। उस समय तक यह कहानी पैदा ही न हो सकती थी जब तक हिन्दू आतिथ्य विश्व-विख्यात न होता। आज उसे हज़ारों साल हो गये। बीबी-पाकदामन आज भी जीवित है और शायद वह हिन्दुओं की धर्म-सहिष्णुता के प्रचार हेतु सुरक्षित रहेगी।

सच बात तो यह है कि यदि हुसैन ६ निराश्रित और असहाय स्त्रियों को भारत में रक्षा के लिए भेज सकते थे और उन्हें यहाँ आश्रय भी और चेले भी मिले, मुस्लिमलीग के अध्यक्ष को आज मुसलमान जाति की सुरक्षा के लिए अधिक परीशान न होना चाहिए। ग़ज़नवी की चहारदीवारी और अकबर के गुम्बद बनवाने से भी शताब्दियों पूर्व भारतवर्ष बीबी पाक-दामन की रक्षा करता रहा। जो भी मुसलमान भारत को अपनी मातृभूमि समझेगा, भारत उसकी रक्षा करेगा। वास्तव में यह एक गौरवपूर्ण परम्परा है, अलबेरूनी और अत्तार, कबीर, गुरुनानक और दारा, मुहम्मद अली और चितरंजन दास, अनसारी और मोतीलाल नेहरू-द्वारा स्थापित परम्परा और जब तक यह परम्परा है उस समय तक मुसलमान मध्यवर्ग और हिन्दू मध्य-

वर्ग विचलित न हों। इक़बाल ने इसी पुनीत परम्परा की अभिव्यक्ति उस पुनीत कविता में की थी—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा।
पर्वत वह सब से ऊँचा हमसाया आसमाँ का,
वह सन्तरी हमारा वह पासबाँ हमारा।
मज़हब नहीं सिखाता आपस में वैर रखना,
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।

क्या आप इस परम्परा का त्याग करेंगे?

क्या भारत इस पावन परम्परा का त्याग करेगा? क्या साम्राज्य-वादियों के इशारों पर नाच कर मुट्ठी भर कट्टर और धर्मान्ध हिन्दू और मुसलमानों के कारण हम अपनी वह गौरव से भरी, संस्कारों से सिंची अतीत की प्रभावपूर्ण परम्परा का परित्याग कर देंगे? परम्परा—जो एक अभिन्न मित्रता की परम्परा है, जो एक चिर सहयोग और पारस्परिक मधुर व्यवहार का प्रतीक है, जो एक ऐसी परम्परा है जिसके लिए हज़ारों हिन्दुओं और मुसलमानों ने स्वप्न देखा, प्रयत्न किये और जानें क़ुर्बान की थीं। हमारी हिन्दू-मुस्लिम मित्रता १२०० वर्ष पुरानी है, हमारे द्वेष तो अभी ५० वर्ष से ही उदित हुए हैं। विकास और सुदृढ़ता का श्रीगणेश तो ८ वीं शताब्दी में हुआ था; विश्रृंखलता का श्रीगणेश २०वीं शताब्दी में शुरू हुआ है। कौन धारा अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगी?

संसार के किस देश में इतनी अन्तर्साम्प्रदायिक और अन्तर्धार्मिक सहिष्णुता पाई जा सकती है जितनी हमारे देश में? वह हमारे इतिहास में अत्यन्त कलापूर्ण रूप से समाहित है। क्या ब्रिटेन में कभी वेल्श जाति का मनुष्य प्रधान मंत्री हो सकता है? क्या अमेरिका में कोई रोमन कैथोलिक राष्ट्रपति बन सकता है? क्या फ्रांस कभी किसी प्रॉटेस्टेण्ट को राष्ट्रीय सभा का सभापति चुन सकता है? परन्तु अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने, हिन्दू

और मुसलमान, खोजा और बोहरा, पारसी और ईसाइयों तक को (और उनमें कोई कोई तो अंग्रेज थे) सभापतित्व ग्रहण करने के लिए चुना है। जातीय और सांस्कृतिक समन्वय एक ऐतिहासिक सत्य है; पाकिस्तान एक क्षणिक छाया-मात्र है। राष्ट्रीय ऐक्य ही भारत का भाग्य है; पाकिस्तान तो एक राजनीतिक माया है।



[२]

मिलापिस्तान : मिलनस्थली

यूनानियों ने भारतवर्ष को सिन्धुस्तान या इन्दुस्तान कह कर हमारे साथ अच्छी चाल नहीं चली। यही शब्द, आगे चलकर हिन्दुस्तान हो गया।

सम्मिलन के तत्त्वों का देश

वे इस देश को मिलापिस्तान या मिलन-देश, अन्तर्जातीय मिलनस्थली या विश्व-संस्कृति-सम्मेलन प्रदेश कहते तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि भारतवर्ष सम्मेलनों का देश है। पंजाब में ही पाँच सहायक नदियाँ विभिन्न स्रोतों से निकलकर सिन्धु नद से मिलने को उतावली-सी दीख पड़ती हैं; वे पंजाब की भूमि को सींचती हैं। एवरेस्ट अपने हिम-धवल सौन्दर्य के साथ स्वर्ग के समीरण को स्पर्श करने और बादलों में खो जाने के लिए सिर उठाये हुए है। आज्ञाकारी भरत अयोध्या के राजसिंहासन पर श्री रामचन्द्रजी की पादुका रखकर उस दिन की प्रतीक्षा करते हैं, जब श्रीराम विजयी होकर फिर अयोध्या वापिस आते हैं और दोनों का मिलन होता है। सत्यवान की मृत्यु पर सावित्री केवल स्वामी के दर्शन की आशा के लिए ही नहीं वरन् उससे चिर-मिलन के हेतु, यम के पास से अपने स्वामी को जीत लाने के लिए निर्भय रूप से चल पड़ती है। पुनर्जन्म में विश्वास होने से मिलन की अनेक संभावनाएँ हैं। वास्तव में यह देश ही मिलन-क्षेत्र है। यह मिलन—वियोग-हीन मिलन-प्रदेश है। यहाँ तक कि जब हम अंग्रेज नौकरशाही के दोस्तों से 'भारत छोड़ो' कहते हैं तो वे कम्बख़्त भी भारत नहीं छोड़ते।

सिन्धु और उसकी सहायक नदियों की भाँति उत्तर, पूर्व और पश्चिम से करीब एक दर्जन जातियाँ और आधे दर्जन विभिन्न धर्म आये। २००० वर्ष पूर्व आर्य लोग वेद-मंत्रों में व्यक्त सांख्य अपने साथ लाये। २००० वर्ष पूर्व यूनानी वैराग्य-दर्शन लेकर आये। १७०० वर्ष पूर्व सीरियन लोग अपने साथ ईसाई धर्म लाये। १२०० वर्ष पूर्व अरब लोग अपना इस्लाम धर्म लाये, और १००० वर्ष पूर्व पारसी लोग अपना धर्म लाये। भारतवर्ष ही इन सबके सम्मिलन का केन्द्र रहा। ऐसा केवल एक दिशा में ही नहीं हुआ। उत्तर से आर्य, पूर्व से मंगोल, पश्चिम से यूनानी, सीथियन, तुर्क और पारसी लोगों ने आ इसे अन्तर्राष्ट्रीय मिलनस्थल बनाया। आज भी अनेक चीनी, बर्मी, कैनेडियन, आस्ट्रेलियन, अंग्रेज, अमेरिकन और हब्शी, युरोप और विश्व के अनेक भागों से आ हमारे देश में बसे हुए हैं। यह बात आज हिन्दुस्तान के विशेषरूप—मिलापिस्तान—को और भी सिद्ध कर रही है। क्या ऐसी सम्पत्ति और परम्परा के प्रति हम मूर्खता से उदासीन हो जायँ और उसका बहिष्कार कर दें?

धर्मों और जातियों का मिलन

यह सच है कि विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के मिलन से विचित्र अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं; परन्तु इससे उनके मिलनोपरान्त नवनिर्मित जाति की संस्कृति में वृद्धि होती है। वह समाज में नवजीवन का संचार करती है; उससे अनेकरूपता मिलती है। विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के मिलन से लाभ उठाने में भारतीयों की प्रतिभा बढ़ी-चढ़ी है। किसी भी वस्तु को अपनाकर उसमें अभिन्न सामञ्जस्य पैदा कर लेने में तो हमारी विशेष कीर्ति रही है। एक भारतीय किसी विदेशी या उसकी परम्परा से भयभीत नहीं होता। यदि बाधा न डाली जाय तो भारतीय प्रतिभा अपनी सहज वृत्ति से किसी भी पुष्प का मधुपान कर सकती है। वस्तु रूप से कबीर, गुरुनानक, दाराशिकोह और केशवचंद्र सेन आदि ने धर्म में भी ऐसा

समन्वय कर दिखाया,—धर्म में, जहाँ समन्वय सबसे कठिन होता है।

गुरुनानक का जीवन हिन्दूधर्म-सार और इस्लाम धर्म के प्रधान तत्त्वों का एक समन्वय था। जिस प्रकार भारतीय-ईरानी (इंडो ईरानी) चित्र और प्रस्तर कला में इस मिलन की सौन्दर्याभिव्यक्ति हुई,

धार्मिक समन्वय के प्रतीक नानक

उसी प्रकार सिख धर्म के रूप में भारतीय और मुस्लिम संस्कृतियों का धार्मिक समन्वय हुआ। गुरु नानक की मृत्यु के बारे में प्रचलित किंवदन्ती इसी बात का प्रतीक है। कहा जाता है, अन्त समय में गुरु जी ने अपने ऊपर एक चादर डाल ली, 'वाह गुरू' कहकर परमात्मा को शीश नवाया और महाप्रयाण किया। हिन्दू और मुस्लिम शिष्यों में अन्त्येष्टि संस्कार के लिए मतभेद हो गया क्योंकि हिन्दू उसे जलाना चाहते थे; और मुसलमान दफ़नाना चाहते थे। पर जब उन्होंने उस चादर को उठाया तो वहाँ उनका शरीर न था; उसकी जगह उन्हें फूलों के दो गुच्छे मिले। रावी के तट पर हिन्दुओं ने उस एक गुच्छे पर स्तूप बनवाया और मुसलमानों ने दूसरे गुच्छे पर एक मक़बरा। परन्तु गुरु के प्रेमपूर्ण परमात्मा और 'मिलनदेश' का इस रूप से अपमान होते देख प्रकृति ने उग्र रूप धारण किया। 'ये दो क्यों बने, एक क्यों नहीं ?' सोचकर क्रुद्ध रावी ने एक बाढ़ में दोनों—स्तूप और मक़बरे—को मिटा दिया।

जिस हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक क्रिया-प्रक्रिया को गुरु नानक के जीवन में एक साकार प्रतीक का रूप, धार्मिक अभिव्यञ्जना में प्राप्त हुआ, उससे समकालीन भाषाएँ, कलाएँ, शिल्प, आचार-व्यवहार और विचार विशेषरूप से प्रभावित हुए। फ़ारसी के गतिशील प्रभाव में मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी और विशेषतः हिन्दी आ पड़ीं। केवल शाब्दिक आदान-प्रदान के रूप में ही भाषाओं की प्रभाव-क्रियाओं को नहीं समझा जा सकता। उनको विशेषकर भावों और विचार-प्रणालियों के आदान-प्रदान के संदर्भ के रूप में समझना चाहिए। फ़ारसी के शब्दों, प्रयोगों और

उपमाओं ने महाराष्ट्र गुजरात, पंजाब, सिन्ध, युक्तप्रान्त, बंगाल, दक्षिणी और मध्य भारत की अभिव्यञ्जना, विचार और अनुभूति-शैली में नवीन जीवन अंकित कर दिया है।

भाषा और साहित्य में

किसी भी राष्ट्रीय, या जातीय उत्थान में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है, क्योंकि वह अभिव्यञ्जना में ही नहीं, वरन् विचार-शैली पर भी यथेष्ट प्रभाव डालती है तथा अपनी विशेष भावुकताओं के कारण कार्य-प्रणाली पर भी असर पहुँचाती रहती है। इसीलिए उसी भारतीय-ईरानी साहित्य में, जिसे काश्मीरी पंडितों और युक्त-प्रान्तीय कायस्थों का प्रचुर सहयोग प्राप्त हुआ, हिन्दुस्तानी शब्दों की प्रचुर मात्रा है। दूसरी ओर प्रत्येक भारतीय भाषा में अनेक अरबी और फ़ारसी शब्द तो उनके अपने से बन गये हैं। केवल दर्शन के विद्यार्थियों को ही नहीं, वरन् समाज-शास्त्र का अध्ययन करने वालों को भी अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि शब्दों में संस्कृत के वस्तु और भावुक आकारों की समानता देखना अत्यन्त रोचक होगा। भाषा के इस सम्मेलन ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के अन्तर्प्रभाव की प्रतीक उर्दू भाषा को जन्म दिया। आश्चर्य है, उसीको आज उत्साहपूर्ण ढंग से मुस्लिमलीग के मंच से द्विराष्ट्र मत का प्रतिपादन करने के हेतु प्रयोग किया जा रहा है।

उर्दू साहित्य केवल चंद फ़ारसीदाँ मुसलमानों की जायदाद नहीं है। पं० दयाशंकर कौल 'नसीम' ने ही उर्दू की वह प्रसिद्ध मसनवी 'गुलज़ारे नसीम' लिखी, जिसके उद्धरण आज घर-घर फैल गये हैं। मुन्शी ज्वाला प्रसाद 'बर्क़' तथा पं० ब्रजनारायण 'चकबस्त' मरसिया की परम्परा को क़ायम रखने में अनीस और दबीर के उत्तराधिकारी सिद्ध हुए हैं। आधुनिक उर्दू-साहित्य में केवल सर्वोच्च स्थान ही प्राप्त करने का नहीं, बल्कि अपनी अद्वितीय मौलिक रचनाओं से उर्दू-साहित्य को पुष्ट करने का महान् श्रेय और उज्ज्वल कीर्त्ति मुंशी दुर्गासहाय 'सुरूर' को प्राप्त

है। उनकी 'खाके-वतन', 'मादरेहिन्द' आदि देशभक्ति की कविताएँ, ऐतिहासिक और धार्मिक ग़ज़लें हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही समान रूप से प्रिय हैं। उन्हीं के द्वारा अनेक हिन्दी शब्दों ने उर्दू साहित्य में सदैव के लिए स्थान पा लिया है। पं० रतननाथ 'सरशार'-लिखित 'फ़िसाना-ए-आज़ाद' का उर्दू में एक उच्च और गौरवपूर्ण स्थान है। उर्दू साहित्य के इतिहासकार सदैव ही लाला श्रीराम के 'ख़ुमख़ाना-ए-जावेद' के ऋण को स्वीकार करते हैं, जिसमें स्मरणीय रूप से उर्दू कवियों का इतिहास लिखा है। उसमें उर्दू कवियों की रचनाओं में से उद्धरण भी दिये गये हैं। महाराजा सर किशनप्रसाद 'शाद' हैदराबादी हिन्दू सूफ़ी कहलाते हैं। उन्होंने रसूल की प्रशंसा में 'ख़ुमकदा-ए-रहमत' नामक दीवान लिखा जो उर्दू साहित्य में साम्प्रदायिक सहयोग एवं मैत्री का एक उच्च और मर्मस्पर्शी प्रतीक है।

हिन्दी की एक विशेष धारा

जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान विचारों का ताना-बाना विकासोन्मुख उर्दू साहित्य को नया रूप देने में सफल हुआ उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान संस्कृति के ताने-बाने ने हिन्दी कविता को नया रंग और स्फूर्ति प्रदान की। अमीर ख़ुसरो लोकप्रिय हिन्दी के प्रथम कवि माने जाते हैं। भक्तिकाल में, कुतबन, मंझन, उसमान, शेख़ नबी, क़ासिमशाह और नूर मुहम्मद आदि उच्चकोटि के कवियों ने अपनी सूफ़ी कृतियों से हिन्दी साहित्य के भक्ति काव्य की परम्परा को अलंकृत किया। रामानन्द ने जिस शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन कर हिन्दू और मुसलमान हृदय को आकर्षित किया था, उस परम्परा में कबीर की गणना उच्चकोटि के कवियों में की जाती है। आज भी उनके चलाये हुए कबीर-पन्थ के युक्त और मध्यप्रान्तों में अनेक हिन्दू और मुस्लिम मतानुयायी हैं। महाराणा प्रताप की निर्भय प्रशंसा से रहीम ख़ानख़ाना हिन्दुओं के प्रियपात्र बन गये थे। याद रखना चाहिए कि उनके स्वामी अकबर महाराणा प्रताप के कट्टर

दुश्मन थे। उन्हें 'अकबर के प्रताप-प्रशंसक प्रधान राजकवि' के नाम से विभूषित किया जाता है। रसखान अपनी प्रभावपूर्ण भक्तिकाव्य-धारा से हिन्दुओं के प्रियपात्र बन गये थे और वैष्णवों ने अपनी कवि-परम्परा में उन्हें अति उच्च स्थान प्रदान किया था। मलिक मुहम्मद जायसी ने प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत एक उत्कृष्ट रहस्यवादी महाकाव्य 'पद्मावत' लिखा। आज भी यह शृंखला टूटी नहीं है। यदि जोश मलीहाबादी अपनी व्यथा और भावातिरेक को उर्दू वाणी में प्रवाहित कर रहे हैं तो उधर ज़हूर बख्श भी हिन्दी साहित्य के भंडार की पूर्त्ति कर रहे हैं। कितने ही मुसलमान आज भी हिन्दी में और कितने ही हिन्दू उर्दू में लिखकर अपनी साहित्य-साधना-द्वारा पूर्वजों की श्रेष्ठ परम्परा को क़ायम रखे हुए हैं।

साम्प्रदायिकता से परे साहित्य की परम्परा

हिन्दी और उर्दू ही दो अन्तर्प्रान्तीय भाषाएँ हैं। कोई भी हिन्दी का विद्यार्थी, चाहे किसी जाति या धर्म का हो, उन मुसलमानों को नहीं भूल सकता, जिन्होंने अपने रत्नों से हिन्दी साहित्य का भाण्डार भरा है; और न कोई ऐसा विद्यार्थी उनके उद्धरणों को घर में या जनता में व्याख्यानों में उद्धृत करने से चूक सकता है। उसी भाँति लाख साम्प्रदायिकता की चिल्लाहट हो, उर्दू साहित्य का कोई भी विद्यार्थी उन हिन्दू कवियों और गद्य-लेखकों की कृतियों के नित्य प्रभाव से प्रभावित होने से बच नहीं सकता है, और न ऐसे विद्यार्थी हिन्दू-मुस्लिम भाषा-समन्वय के तथ्य के प्रति उदासीन ही रह सकेंगे। मुसलमान लोग उसी गर्व से चकबस्त और नसीम को उद्धृत करेंगे, जिस गर्व से और किसी अन्य मुसलमान कवि का कर सकते हैं। साहित्य में जातीय और साम्प्रदायिक ऐक्य के विकास को प्रवाहित करने की विचित्र शक्ति है, क्योंकि साहित्य में ही भावना, कर्त्तव्य और विचार-धारा को गतिशील करने की शक्ति है। साहित्य में जात-पाँत या वर्ण-व्यवस्था का कोई स्थान नहीं है। शायद इसीलिए लोगों का यह ख्याल है कि जब अन्त में इक़बाल अपने राज-

नीतिक विचारों के दबाव में आकर उर्दू के फ़ारसी में शायरी करने लगे तो उन्होंने भूल की।

केवल राजनीतिक कारणों से ही मुसलमान राजा हिन्दी के पोषक नहीं बने। उसका एक कारण साहित्य के अन्दर वास्तविक अनुभूति भी थी। इसका ज्वलन्त उदाहरण स्वयं अकबर है। ऐसे और भी अनेक राजा हैं, जो इतने प्रसिद्ध न हो सके थे। देशी साहित्य के प्रति सहानुभूति और उदार सम्मान दिखाने की भावना से उत्साहित हो मैथिल कवि विद्यापति ने गौड़ के राजा नसीरशाह और सुलतान गयासुद्दीन की प्रशंसा की है। बँगला भाषा में महाभारत का अनुवाद सर्वप्रथम नसीरशाह ने कराया था। पर बदक़िस्मती यह है कि हिन्दू राजाओं ने उर्दू या फ़ारसी साहित्य के प्रति वह उदारता न दिखलाई, जो उन्हें दिखानी चाहिए थी।

हिन्दी और संस्कृत के पोषक मुस्लिम-नरेश

शहाबुद्दीन, निज़ामशाह, शेरशाह, शाहजहाँ, मुज़फ़्फ़रशाह, मल्लाशाह इत्यादि राजाओं ने संस्कृत साहित्य के प्रति अत्यन्त उदारता प्रदर्शित की थी, जिसके कारण वे हिन्दुओं के प्रशंसा-पात्र बन गये थे। भानुकर कवि द्वारा निज़ामशाह की प्रशंसा में रचित नौ कविताएँ और शेरशाह की प्रशंसा में लिखी एक कविता सुरक्षित है। जिस महान् अकबर की सर्व-रुचि, प्रवृत्ति और राजकीय उदारता के कारण भारत में एक पुनरुद्धार का युग आरम्भ हुआ था, उसकी प्रशंसा अकबरीय कालिदास में व्यक्त है। यदि भारत में ऐसे शासक कुछ और होते तो शायद भारतीय जीवन का इतना पतन और विनाश न हुआ होता। जगन्नाथ 'आसफ़ विलास' नामक ग्रन्थ में नूरजहाँ के भाई आसफ़ खाँ की प्रशंसा में लिखते हुए कहते हैं कि मुझे स्वयं शाहजहाँ-द्वारा 'पण्डितराज' की पदवी से विभूषित किया गया था। जगन्नाथ ने एक मुस्लिम युवती लवंगी से विवाह किया था, उसके वर्णन में उन्होंने अनेक भावुकतापूर्ण छन्द रचे हैं। उन्होंने अपने जीवन के अनेक वर्ष शाहजहाँ के दरबार में व्यतीत किये थे और दाराशिकोह

की अमानुषिक हत्या के बाद ही उन्होंने दिल्ली छोड़ी थी। पण्डितराज जगन्नाथ अपनी कविताओं में एक स्थान पर लिखते हैं—"सहायता के लिए केवल विश्व के स्वामी या दिल्ली के सम्राट् की ही याचना करनी चाहिए।" ये शब्द मुसलमानों के प्रति संस्कृत कवियों की उन सम्मानपूर्ण भावनाओं के द्योतक हैं, जिन्हे वे शब्दबद्ध करते थे और चाहते थे। यह भी विश्वसनीय है कि हरिनारायण मिश्र, पुण्डरीक विठ्ठल, अमृतदत्त, इत्यादि को मुसलमान राजाओं से सम्मान मिला था और वे उनके द्वारा पोषित थे। डॉक्टर यतीन्द्र विमल चौधरी लिखते हैं—"निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि मुसलमान राजाओं ने न केवल हिन्दी और संस्कृत लेखकों का पोषण किया, बल्कि शाइस्ता खाँ और उनके जैसे बहुत से सहधर्मियों ने तो स्वयं भारतीय, विशेषतः संस्कृत और बँगला, साहित्य की सेवा की।"❀

तैमूर और चंगेज़ खाँ का फ़ारसी कला पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका अन्दाज़ मार्टिन के 'फ़ारस, हिन्दुस्तान और तुर्किस्तान के लघु चित्र' वाले संग्रह से लग सकता है। उनमें जैसे रण एवं आखेट क्षेत्र का यथोचित चित्रण है, उसी प्रकार ललित क्षेत्र का भी है। लैला-मजनूँ, शीरीं फ़रहाद की कहानियाँ, युवक और युवतियों की रजत धाराओं के समीप क्रीड़ाओं का, राजदरबारों में शानदार स्वागत का, दावतों में बहुमूल्य खाद्य-पदार्थों और मदिरा का यथेष्ट चित्रण है और प्रत्येक दृश्य में कलाकारों ने अपने व्यक्तिवाद से मजबूर हो अनुभूति और अनुबंध को विस्तार-सुख के लिए भुला सा दिया है। इस कला-चेतना का हिन्दू कला-चेतना से समागम होने पर एक ऐसी शैली का जन्म हुआ जो न तो अजन्ता की थी, न समरक़न्द या हेरात की; वरन् उन दोनों से भिन्न थी और इस विभिन्नता से उसे लाभ ही हुआ था। अजन्ता की स्वप्निल अंकन-शैली पर समरक़न्द और

❀'मार्डन रिव्यू', अगस्त १६४२

हेरात की सुघड़ता का अनुपात और दिक्ज्ञान के नियम व्यवस्थित किये गये। फ़ारस की फ़ारसी कला में भारतीय ज्ञान से वृद्धि हुई। भारतीय कला की सरल और मुक्त शैली में दरबारी वास्तविकता का समावेश हुआ। प्रकृति के बाहुल्य चित्रण का स्थान सूक्ष्म विस्तारों ने ले लिया। इसमें सन्देह नहीं कि इसके फलस्वरूप हिन्दू और मुस्लिम कलाओं की कुछ सक्रिय शक्तियों का बलिदान कर देना पड़ा, पर उसकी जगह क़लम की बारीकी और व्यञ्जना की यथेष्ट प्राप्ति भी हुई।

हिन्दू चित्रकारों ने शीघ्र ही फ़ारसी प्रभाव को अपना लिया और मुस्लिम कलाकारों ने भी हिन्दू कलाकारों के आदर्शों को हृदयंगम किया।

चित्रकला में समन्वय

आईन-ए- अकबरी में हमें उन बहुत से हिन्दू कलाकारों के नाम मिलते हैं, जो अपनी प्रसिद्धि के कारण अकबर के दरबार में बुलाये जाते थे। दसवन्त, बसावन, मुकुन्द, जगन्नाथ, केशवलाल, हरिवंश और माधव आदि उनमें के प्रमुख नाम हैं। यह तो निश्चित ही है कि इन कलाकारों के बीच कला-सम्बन्धी आदर्शों के आदान-प्रदान का ऐसा सुन्दर संगम हुआ होगा, जिसके बिना वे अपने कलाविद् और निपुण आलोचक बादशाह को सन्तुष्ट न कर पाते। खुदाबख्श संग्रहालय* बाँकीपुर की हस्तलिपियों में ग्वालियर, गुजरात और काश्मीर के हिन्दू कलाकारों का भी वर्णन है। यह मार्के की बात है कि 'प्रदर्शक अंकन शैली', जो फ़ारसी कला की विशेषता थी और भारत के लिए एकदम नई चीज़ थी, उसमें भी तुलसी, सुरजन, ईशर, सूरज, शंकर, और बनमाली आदि ने अच्छी प्रसिद्धि और निपुणता प्राप्त की। शाहजहाँ के राज्य में कल्यानदास, मनोहर, रामअनूप जैसे कलाकारों ने यदि अपने समकालीन मुस्लिम कलाकार नादिर समरक़न्दी, मीर हाशिम

---

*मुस्लिम-काल की हस्तलिपियों तथा ग्रन्थों का एशिया में सर्व-श्रेष्ठ संग्रहालय।

फ़क़ीर अल्ला ख़ाँ इत्यादि को मात नहीं किया तो भी उन्हीं के समान उत्कृष्ट थे।*

ऐतिहासिक प्रेरणा तथा तात्पर्य की पूर्ति के लिए हिन्दू और मुस्लिम सभ्यता का सामञ्जस्य कविता से भी अधिक चित्रकला और संगीत में हुआ था, क्योंकि दोनों एक दूसरे में वही सौन्दर्य्यानुभूति पाना चाहते थे, जिसके द्वारा ही साधारण कारीगर की कृति कला का रूप ग्रहण कर सकती है। मुग़ल प्रभाव ने हिन्दू कला को मन्दिरों के धूमिल वातावरण से उठाकर उसे मुग़ल राजदरबारों के उन भावदृश्यों की अनुभूति कराई, जिनमें शौर्यवान सामन्त और कीर्त्तिवती रमणियों के उस जीवन का परिचय था जो प्रेमियों को सूरमा बनाने की शक्ति रखता था और उन अविरल प्रेम में रत रमणियों को और अधिक सुन्दर बनाता था। राजपूत कला-युग से आज तक हम मुग़ल प्रभाव की इस स्वातन्त्र्यप्रियता और शक्ति का आभास पाते हैं। उसी प्रकार मुग़ल कला को कोरी सजावट से मुक्त कर हिन्दू कला ने वास्तविक जीवन की सांकेतिक, और रहस्यमय स्थलों की भावुक, अनुभूति दी, जिससे वह कला हृदयग्राही बन सकी। मुग़ल चित्रकला से लेकर चग़ताई-जैसे मुस्लिम कलाकारों तक में ऐसे प्रतीकवादी यथार्थ की झाँकी मिलती है जो हिन्दू प्रभाव सूचित करता है। हिन्दू और मुस्लिम कलाकारों की इन कृतियों ने युगों तक भारतीय सन्तति को हिन्दू-मुस्लिम कलाओं के समन्वय और सामञ्जस्य के प्रति अमिट उत्साह का दान किया है। इसके द्वारा कला में स्वप्निल रसिकता, तीव्र भावुकता और छायावादी आकर्षण आदि सम्भव हो सके हैं।

मारगरेट कज़िंस ने गहरी अनुभूति के साथ लिखा है—"गोलकुण्डा

---

*स्मिथः 'ए हिस्ट्री ऑव् फाइन आर्ट्स ऑव् इंडिया एंड सीलोन', पृष्ठ ४८२।

के स्वर्ण से, महाराजाओं के रत्नों से, ढाका की मलमल से, बनारसी पीतल से, काश्मीरी शाल से, सूरत के रेशम से, अजन्ता की चित्रकारी से, एलिफ़ेंटा की मूर्त्ति कला से, ताजमहल के गौरव से, फ़क़ीरों के चमत्कारों से, संस्कृत की पवित्र ध्वनि से, फलदायक दर्शन-शास्त्रों से तो आज पूरी दुनिया भर गई है परन्तु भारतीय संगीत की प्रतिभा, भारत की चहार दीवारी के बाहर अप्रकाशित और अज्ञात है। फिर भी भारत की कोई दूसरी कला उसकी संगीत-कला से अधिक सर्वाङ्गपूर्ण, सर्वग्राही, सर्वप्रिय और जीवन में समाई हुई नहीं है।" यह बात हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए समानरूप से लागू है। पाँच शताब्दियों से दोनों जातियों ने अपनी मातृभूमि के संगीत-क्षेत्र में अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा और अविरल भक्ति की श्रद्धांजलि अर्पित की है।

संगीत में

इस्लामी पाखंडों से मुसलमानों का संगीत-प्रेम बहुत दबाया गया था। इसलिए भारत में आनेवाले पहले मुसलमान संगीत के प्रति अविचल प्रेम लेकर आये थे। उनका यह नया वातावरण वंशी और पखावज की मर्मस्पर्शी गूँज से, झाँझ के जीवित तीव्र स्वरों से और वीणा की व्यथामयी झंकारों से एवं पुरुष और स्त्रियों के पूर्ण स्वर के गानों से परिपूर्ण था, जिसमें उनको उनकी संगीत-क्षुधा की तृप्ति का भी अवसर मिला। सूफ़ियों की रहस्यवादी उक्तियों ने क़व्वाली को जन्म दिया, पर धीरे-धीरे ग़ज़लें भी सुनी जाने लगीं। मुग़ल राजा भारतीय संगीत में पर्य्याप्त आनन्द लेते थे। इस तरह उन्होंने अपने सामन्तों के लिए अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। शीघ्र ही प्रत्येक उत्सव और त्यौहार पर हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा संगीत-सम्मेलन होने लगे। कुछ भारतीय वाद्य-यंत्रों में थोड़ा रद्दोबदल करके उनका फ़ारसी नामकरण भी हुआ जैसे—दिलरुबा, सरोद, ताऊस, रबाब आदि। वही कला, जो कलाकारों के आर्थिक कष्टों एवं सृजनात्मक दिवालियेपन के कारण मृतप्राय-सी हो चली थी, मुसलमान रजवाड़ों-द्वारा बढ़ावा पाने पर फिर से पनप उठी। कला के मृतप्राय होने का एक प्रमुख

कारण धार्मिक आडम्बरों का बन्धन भी था। दो ही पीढ़ियों के अन्दर मुसलमान संगीतज्ञों ने भारतीय संगीत कला, विशेषतः होली, पद और भजन गाने में अच्छी ख्याति प्राप्त करली थी। इसी प्रकार हिन्दू क़व्वालों से भी जनता अपरिचित न थी।

यह भूलने की वस्तु नहीं है कि हमारे संगीत के युग-प्रवर्त्तक एवं पुनर्निर्माणकर्त्ता श्री भातखंडे ने भारतीय संगीत की पूरी शिक्षा रामपुर के वज़ीर खाँ साहब और जयपुर के प्रसिद्ध ख्याल-गायक मुहम्मदअली और प्रसिद्ध ध्रुपद-गायक श्री वेलवलकर जी से समानरूप से ली। इस पूना के ब्राह्मण को अपने इन मुसलमान उस्तादों के प्रति ऋण स्वीकार करने में गर्व भी है। आधुनिक समय में प्रचलित ख्याल की चार शैलियों में से तीन के प्रतिनिधि बम्बई के खाँ अब्दुल करीम खाँ, आगरा के फ़ैयाज़ खाँ और पंजाब के ग़ुलाम अली मुसलमान उस्ताद हैं। चौथी शैली के दो प्रतिनिधि राजा भैया और ग्वालियर के शंकर पंडित हैं।

भारतीय संगीत की अन्तर्जातीयता ने बराबर भारतीयों को अपनी संगीत-मधुरिमा से एक में बाँध रखा है ; इस एकता को कभी-कभी उबल पड़ने वाली राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता तोड़ ही नहीं सकती। संगीत का वह प्रभाव, जो हिन्दू-मुस्लिम कलाकारों के कौशल को एक रूप दत्तचित्त हो सुनने में हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित जनता के हृदय और मस्तिष्क पर पड़ता है, राजनीतिक प्रचार के क्षणिक प्रभाव से कहीं अधिक गहरा और स्थायी होता है। उत्साही फ़िल्मनिर्देशकों-द्वारा भारतीय संगीत, जो चारों ओर फैल रहा है मुसलमान और हिन्दू प्रतिभाशाली पात्रों की भावुक प्रतीक्षा वेदना, सुख, आदि हृदय की कोमलतम भावनाओं की व्यञ्जना का अभिन्न प्रयास रूप है, जो न हिन्दू है न मुसलमान, न काला, न भूरा, न सफ़ेद, न पीला। भारतीय संगीत की इस अन्तर्जातीयता को मिटा देने की शक्ति किसमें है ?

संगीत-कला की भाँति प्रस्तर कला में भी वैसा ही सामञ्जस्य उद्‌भूत हुआ। हैवेल ने गहरी अन्तर्दृष्टि से कहा था—"भारत की सब

स्थापत्य कला में

शैलियों में जो अजमेर, आगरा, दिल्ली, गौड़, मालवा, गुजरात और बीजापुर में पाई जाती हैं, फिर चाहे वहाँ के राजा अरब रहे हों या पठान, तुर्क रहे हों या फ़ारसी, मंगोल या हिन्दुस्तानी; वहाँ की मस्जिदों, मकबरों और महलों के गुम्बदों की बनावट या उन भवनों के ऊपर रहने वाले हिन्दू-चित्र, हिन्दू भवनों में सौन्दर्य-वृद्धि के लिए निर्मित महराब (जिसमें पूर्णतया हिन्दू शैली का पुट है) और उनके अन्दर वे संकेत या प्रतीक जो कि प्रत्येक सजावट या भवन निर्माण की बुनियाद हैं........यह सब हमको आसानी से बता देते हैं कि हिन्दू निर्माताओं के सम्मुख मुहम्मद का सम्प्रदाय, उन विभिन्न धाराओं में से एक है, जिसका संगम हिन्दू-धर्म में हुआ। लोग हिन्दू होते हुए भी अच्छे मुसलमानों की भावना के साथ रह सकते हैं।[1] स्मरण रहे कि मुस्लिम प्रस्तर-कला में तीव्र सरलता का विशिष्ट स्थान था। मुसलमान देशों की कठिन भौगोलिक स्थिति तथा इस्लाम द्वारा प्रतिपादित एकांगी निष्ठा ही इसका कारण थी। हिन्दू प्रस्तर-कला के अन्दर शृङ्गार-बाहुल्य एवं अन्तर्मुखी रहस्य-व्यञ्जना का विशिष्ट स्थान है। भारत में प्रकृति का वैभव-बाहुल्य एवं हिन्दू-धर्म के रहस्यमय तत्त्व ही इसके कारण हैं। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का एक प्रतीक यह कला-सम्बन्धी सांस्कृतिक सामञ्जस्य था। चतुराईपूर्ण शिल्प, जटिल 'डिज़ाइन' और अलंकृत व्यञ्जना तो अधिकतर हिन्दू परिपाटी की देन थीं; और धनुषाकार निर्माण, चमचमाते गुम्बद, चिकनी दीवारें, और खुले हुए प्रकोष्टों का चित्रण मुस्लिम देन थीं।

जोधपूर में गोदवार एक ज़िला है। उसमें सोदारी के क़रीब, रणपूर, में, धारानक जैन-द्वारा १४३६ ई० में बनवाया हुआ एक मन्दिर मौजूद है।

---

[1]इंडियन आर्किटेक्चर पृ० १०१

यह हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित कला का सबसे पुराना नमूना है। विशेष बात यह है कि इस मन्दिर की बनावट प्राचीन कट्टर हिन्दू बनावट से बिलकुल अलग है। उसके बाद की पहली और दूसरी शताब्दी में वृन्दावन में राजा मानसिंह द्वारा-निर्मित गोविन्ददेव मन्दिर में, सोनगढ़ के जैन मन्दिर में, मदुरा में तिरूमलाई नायक के महल में, अम्बर, उदयपूर, बूँदी और दतिया के राजमहल में, ओरछा के वीरसिंह देव जी के स्मारक में ऐसी ही कला का प्रदर्शन मिलता है। ऐसा ही गौरवपूर्ण प्रदर्शन हमें दिल्ली के जैन मन्दिर में, अमृतसर में सिखों के स्वर्ण-मन्दिर में, बनारस के विश्वेश्वर मन्दिर में, कलकत्ता के पैगोडा, महाराज रणजीत सिंह, उदयपुर के महाराना संग्राम सिंह और छत्रसाल तथा रानी कमलावती की समाधियों आदि में उत्कृष्ट रूप में मिलता है। भारतीय स्थापत्य की यह शैली केवल राजमहलों एवं मन्दिरों तक ही सीमित नहीं रही है। अब तो वह कहीं भी देखी जा सकती है। स्नानागारों, मीनारों, स्कूल-कालेजों में, यहाँ तक कि साधारण घरों में भी, इस शैली पर बनी हुई कृतियाँ उपस्थित हैं।

हिन्दू-मुसलमान और ईसाइयों का परस्पर मैत्री का व्यवहार केवल संगीत-सम्मेलनों तक ही सीमित नहीं रहा। इसका आभास ग्रामों के जीवन तक में मिलता है, जहाँ के सामाजिक व्यवहार क्षुद्र आडम्बरों से दूषित नहीं हो पाये हैं। ये कोरे सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं हैं, वरन् इसमें वास्तविक भाई-चारा है। ये सभी जीवन की तीन प्रमुख घटनाओं—जन्म, विवाह और मृत्यु—को भाई के समान मिलकर मनाते हैं। सच पूछें तो सिवाय साथ खाने के वे सब एक ही जाति, और कभी-कभी एक ही परिवार के, समान रहते हैं। वहाँ हिन्दू-मुसलमान की वेश-भूषा में भी शायद ही विशेष अन्तर होता है; कभी कभी केवल टोपियों आदि से उसका पता लगता है।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच साहित्य, संस्कृति, धर्म, विज्ञान, दर्शन, ज्योतिष तथा आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के सम्पर्क के तर्कपूर्ण विवेचन

के पश्चात् डाक्टर ताराचन्द का निष्कर्ष है :—

"भारतीय जीवन के प्रत्येक विभाग या क्षेत्र में, मुस्लिम प्रभाव के वर्णन को मुश्किल से ही बढ़ा-चढ़ाकर कहा जा सकता है। परन्तु रीति-रिवाजों, घर-गृहस्थी के ब्यौरों, संगीत, वेशभूषा, विवाहादि उत्सवों तथा मराठा, राजपूत एवं सिख नरेशों के राजदरबारों और शिष्टाचार से अधिक एकरूपता कदाचित् और कहीं न मिलेगी। बाबर के समय में हिन्दू और मुसलमानों का रहन-सहन इतना एक रूप था कि उसका ध्यान बरबस ही इस "हिन्दुस्तानी तौर-तरीक़े" की ओर आकृष्ट हो गया था। उसके उत्तराधिकारियों ने भारत की परम्परा के लिए जो इतनी बड़ी निधि छोड़ी है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं।[1] शताब्दियों के उपरान्त यह क्रिया और भी गहरी हो गई है। आज तमाम हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाइयों में वह "हिन्दुस्तानी तौर-तरीक़ा" विशेषरूप से विद्यमान है।

ग्रामीण जीवन की परम्परा

आज भी किसी गाँव में, किसी मुसलमान वृद्ध का पूरे गाँव के बूढ़े जवान, अमीर, ग़रीब सभी के द्वारा 'चाचा' के रूप में ग्रहण किया जाना कोई असाधारण बात नहीं है। उसी तरह किसी दूसरे गाँव में रपहले बालों वाले हिन्दू को इस पदवी से विभूषित किया गया होगा। यह तो एक विशिष्ट पद ही है, जिसमें कि उस पुरुष की धोतियों या कुर्तों को पकड़ कर, लटक कर गाँव के बालक मिठाइयाँ खाने की माँग भी कर सकते हैं। उसके पास क्रूर महाजनों के क़र्ज़े से मुक्ति पाने के लिए विपदाग्रस्त विधवाएँ भी आ सकती हैं। वह अक्सर गाँव के छोटे-मोटे फ़सादों को तय करने के लिए भी बुलाया जा सकता है। किसी हाईकोर्ट के प्रधान न्यायाधीश से कहीं अधिक प्रभाव उसके फ़ैसलों में होता है। जो कोई

---

[1] ताराचन्द : इन्फ्लुएंस ऑव् इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १४२

'चचा' के फ़ैसले मानने में आनाकानी करता है उसका फिर उस गाँव में बसना ज़रा टेढ़ी खीर-सा हो जाता है।

जब किसी ग़रीब मुसलमान के मवेशी कोई तेज मिज़ाज हिन्दू चालान के लिए ले जाता हो, उस समय मुसलमान का पक्ष लेने वाले उस चाचा के व्यवहार को देखिए। उस समय चाचा को यह कहते देखिए—"अरे बेटा सरजू, भलमनसी बर्तो और इन जानवरों को छोड़ दो। पीरू बिचारा ग़रीब आदमी है। आगे से होशियार रहेगा।" फिर उस गुस्सैल हिन्दू के अन्तर-परिवर्त्तन को देखकर, उन ढोरों के तुरत छोड़े जाने को देखकर, इस हिन्दू-मुस्लिम-समन्वय को देखकर भारतीय होने में गर्व अनुभव किया जा सकता है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल भारतीय होने के नाते हम जाने कितने आरोपित अत्याचारों के भागी हो जाते हैं, जो विदेशी शासन-सत्ता हम पर लाद सकती है फिर भी दुनिया के और किसी कोने में ऐसा दृश्य देखने को नहीं मिलता, जहाँ किसी बुजुर्ग की इज़्ज़त, उसके तजुर्बे, और सार्वदेशिक सहानुभूति से भरे शब्दों का इतना अधिक प्रभावपूर्ण अधिकार हो कि क्षण भर में ही वह सैकड़ों साल पुराने झगड़ों और फ़सादों को खत्म कर दे। ऐसी नैतिक सत्ता और किसी सभ्य से सभ्य देश में संभव नहीं है। यही कुछ बातों में पिछड़ा, अनेक रूप से दुखी, अभागा और अपरिचित भारत है, जिसके अन्दर अब भी सभ्यता की वह अमिट ज्वाला है, जो उसके क्रूर आलोचकों के लिए एक पाठ-सी है। यही वह भारत है, जिसके बारे में न तो महात्मा रूज़वेल्ट, न क़ायदे आज़म चर्चिल ही लेशमात्र भी जानते थे और जहाँ के गाँवों के असंख्य मुसलमान अपने हिन्दू भाइयों के साथ, अपनी मातृभूमि की दासता के विरोध में कंधे से कंधा मिलाकर लड़ सकेंगे।

वह सुन्दर दृश्य!

जब हम विचार करते हैं कि हिन्दू-मुसलमानों की यह प्रक्रिया कोई

एक-दो दिन की न हो कर, पचासों पीढ़ियों की हो गई हैं, हमें कुछ हिन्दुओं का कुछ मुसलमानों की तरह, और कुछ मुसलमानों का हिन्दुओं की तरह रहन-सहन देखकर आश्चर्य नहीं होता। मुसलमानों को जन्तर और तावीज़ पहने देख, झाड़-फूँक में विश्वास करते देखकर, कभी-कभी चेचक माई को पूजते देखकर विस्मय न होना चाहिए। इसका अर्थ तो सिर्फ यह है कि समूह के समूह मुसलमान समागम के कारण हिन्दुओं के इतने समान हो गये हैं कि कहीं-कहीं न तो उनके साम्प्रदायिक भेद दिखाई पड़ते हैं, न सामाजिक संघर्ष ही। दूसरी तरफ़ हमें हिन्दुओं में मुसलमान पीरों के प्रति विश्वास और पूजन देख, उन पीरों के पास हिन्दू स्त्रियों का जन्तर के लिए जाना देख, उन्हें चादर और मज़ार को पूजते देख, यदि उनके बालक जीवित नहीं रहते तो उनका किसी मुसलमान-द्वारा अपने अगले बालक का खतना कराते देख हमें विस्मय न होना चाहिए। शेखावाटी वंश का इतिहास इस दृष्टि से बड़ा रोचक है। मोकल राना के कोई सन्तान न थी। अन्त में एक मुसलमान फ़कीर की कृपा से उन्हें एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ—शेख बरहन। वह अपने बालक को शेख जी कहने लगे। यही शेख जी शेखावाटी वंश के आदि पुरुष हुए। ग्राउज़[1] कहता है:—

धर्म के सम्मान की जन-भावना

"प्रत्येक लड़के के जन्म के समय एक बकरे की बलि दी जाती है और जिस समय कलमा का उच्चारण होता रहता है, शिशु पर रक्त के छींटे डाले जाते हैं। उसे एक बद्धिया पहनाई जाती है जो कि शिशु मुसलमानों को पहनाई जाने वाली जैसी होती है और अन्त में उतारते समय उसे दरगाह में जाकर उतारना होता है—वह दरगाह आज भी अछरौल से ६ मील दूर स्थित है। २ वर्ष तक मुस्लिम बच्चे की भाँति

[1] ग्राउज़ : मथुरा, पृ० १११

उसे नीला पाजामा और टोपी पहननी पड़ती है और मुसलमान भावों के प्रति आदर हेतु आजीवन सूअर के मांस से परहेज करना पड़ता है और उस मांस से भी परहेज करना पड़ता है जिसमें कुछ रुधिर रह गया हो।"

संयुक्त प्रान्त के बहराइच ज़िले में, मुस्लिम संत ग़ाज़ी मियाँ के उर्स में हज़ारों हिन्दू शरीक होते हैं। इन संत का समस्त भारत में आदर है। पूर्वीय बंगाल में जहाँ यह मेला नहीं होता वहाँ मिट्टी का एक ढूह बना कर, उनकी स्मृति में अर्पित कर देते हैं, जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों पूजते हैं।[1] इससे साफ़ ज़ाहिर है कि हिन्दू और मुसलमान आपस में इतना घुलमिल गये हैं कि यदि उनके कान न भरे जायँ तो उन्हें निरर्थक मतभेदों की ओर ध्यान भी नहीं रहता।

ठीक इसके विपरीत यह एक बड़ी विचित्र बात जान पड़ती है कि नगरों में, जहाँ मस्जिदों के सामने मोटर के भोपुओं की आवाज़ तो कुछ आपत्तिजनक नहीं मालूम पड़ती वहीं, एक साधारण शंखध्वनि बलवे का का कारण हो जाती है। यह भी बड़ी अचम्भे की बात है कि एक जगह तो वन्देमातरम् के गाने से ही लीग के अन्दर घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं, जब उसी जगह ताज़िया को पसन्द किया जाता है जो दुर्गा-पूजा की एक चतुर प्रतिकृति है। यह भी बड़े दुःख की बात है कि जिस भारत में कई सदियों से हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहे हैं, जब इन दोनों जातियों ने एक चित्त से कविता, कला और संगीत का भांडार भरा है, भारत की धरती को सुन्दर भवनों से सुसज्जित किया, खेतों और कारखानों में एक साथ मेहनत और मज़दूरी की, एक साथ कारीगरी की, एक साथ भूख और परीशानियाँ सहीं; और ब्रिटिश साम्राज्यवाद-द्वारा लादी गई मुसीबतों और परीशानियों को झेला, भारत के गौरवपूर्ण चित्र का एक साथ

---

[1]सुभान : सूफ़ीज़्म, पृ० १२३—२५

स्वप्न देखा, ग्राम-जीवन को आनन्दमय, समृद्ध और शान्तिमय बनाने के लिए एक साथ कोशिश की,—उसीको महासभा केवल हिन्दुओं की पैतृक सम्पत्ति बताये। कृत्रिम, राजनीतिक प्रतिरोध के कारण मनुष्यों के पारस्परिक नैतिक आधार सेवा और मानवीय बन्धनों का भूल जाना अत्यन्त उपहासजनक है। महासभा और लीग-जैसे दो टुँरुन्टूँ संगठन भारत के अतीत की अन्तर्जातीय संस्कृति, समन्वय की परम्परा को विशृङ्खल कर दें, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

हिन्दुस्तान में दो राष्ट्रवाली नीति चलाने के बजाय, यदि ब्रिटेन में इंग्लैंड, स्काटलैंड, वेल्स और आइल ऑव् मैन 'चार राष्ट्र' की नीति पर अलग होना चाहें तो अवश्य ही सुलभ सिद्ध होगा। स्काच, वेल्स या मैक्सजन अंग्रेज़ों से ऐतिहासिक परम्परा, संस्कृति, भाषा, जीवन, नैतिकता, धार्मिक विद्वेष में उससे भी अधिक भिन्न होंगे जितने हिन्दू-मुसलमान दो पीढ़ियों के अनुचित प्रचार के बाद होंगे। अंग्रेज़, जो आज पाकिस्तान की माँग पर निष्पक्ष सहानुभूति प्रकट करता है वही सहानुभूति स्काच, वेल्स या मैक्सजनों के अलग सरकार बनाने की माँग पर रखेगा? यदि मुस्लिमलीग अपने कुछ विद्वान् प्रचारक स्काटलैंड, वेल्स, या आइल ऑव् मैन आदि प्रदेशों को भेज, उन्हें उनके सांस्कृतिक एवं राजनीतिक अन्तरों के प्रति जागरूक बनाती और उन्हें होमरूल के प्रति सचेत करती तो बड़ी शूर संस्था कहलाती। शायद अंग्रेज़ उसे न्यायपूर्ण अवस्था कहें यनि उन परिस्थितियों में आइरिश, वेल्श, मैक्स और अंग्रेजों के बीच समझौता होने तक जर्मनी, अमरीका या जापान, शान्ति-स्थापना के लिए विलायत में जा वहाँ पर अपने नैतिक कर्त्तव्य से प्रेरित हो क़ब्ज़ा कर बैठें।

लीग के उगते हुए नेता चौधरी खलीक़-उज़-ज़माँ को फ़ौरन ही अपने नाम से चौधरी शब्द उड़ा देना चाहिए, क्योंकि संस्कृतमूलक यह पदवी द्विराष्ट्र नीति को जड़ से काट देती है। पर तब कदाचित् इन उत्साही चौधरी को पाकिस्तान-जैसी भ्रममूलक योजना को सिद्ध करने में किसी

जादूगरी से काम लेना पड़ेगा। लीग को चाहिए कि मि० एमरी से कहकर कुछ ऐसे विद्वान् इतिहासज्ञों की समिति बिठाये जो पिछले ५०० वर्षों के इतिहास को बिल्कुल नये सिरे से लिख डालें। क्या इतिहास की उस अखिल-धारा के प्रवाह को कांग्रेस, महासभा, या मुस्लिमलीग का कोई सरपरस्त रोक सकेगा? उसमें एक अखंड हिन्दू-हिन्दुतान का भी नारा पाकिस्तान की ही भाँति भ्रममूलक है। भारत में आर्यों के पद-प्रवेश के पश्चात् ही ऐतिहासिक मिलन की वह क्रिया प्रवाहित हुई, जिसमें फिर कभी बाँध न बँधा। वैसी ऐतिहासिक गति तो अटूट ऐक्य ही ला सकता है—विच्छेद नहीं। कोई ऐसी शक्ति जो उस ऐक्य-क्रिया में बाधा देगी जल्द ही अपने आप काल-कवलित हो जायगी। भारत माता के भाग्य में, जो अपने सब पुत्रों को समानरूप से प्यार करती है, समानरूप से रक्षा करती है, समान अवसर, अधिकार और व्यवहार देती है, सब की माता होना लिखा है। इस आदर्श से कुछ भी कम प्रयास करना राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात है।



[२]

पाकिस्तान

अपनी द्विराष्ट्रनीति के कारण शैतान को स्वर्ग से निकाल दिया गया था। भगवान् ने सोचा, खतरा खत्म हुआ, लेकिन शैतान अपन नीति का प्रचार करने के लिए सारी पृथ्वी पर घूमता रहा। उसको असंख्य अनुयायी मिले। कुछ लोगों ने उसका विरोध भी किया, पर धर्मरूढ़िवाद, सामन्तशाही और पूँजीशाही की सम्मिलित शक्ति के द्वारा दबा दिये गये। पादरियों, मौलवियों और पंडितों ने इस नीति को आगे बढ़ाया। राजनीतिज्ञों ने इसे कार्यरूप में परिणत किया। उन्होंने स्वर्ग को तीन हिस्सों में विभाजित किया और उन्हें शैतान के सुपुर्द कर दिया। धनिकों को स्वर्ग मिला। फिर तो नरक का निर्माण हुआ। सर्वशक्तिमान प्रभु ने आह भरी—"शोक! अब युद्धों की अबाधगति कोई नहीं रोक सकता।" तत्पश्चात् शैतान ने अपना निजी दूत भारत में भेजा।

राष्ट्रों के खण्ड-खण्ड करने की कोई भी नीति इतिहास की गति के विरुद्ध है। ऐतिहासिक गति का प्रवाह ऐक्य की ओर है। मानव-विकास

ऐतिहासिक धारा का उपहास

की गति व्यक्ति से परिवार, परिवार से वंश, वंश से जाति और जाति से राष्ट्र की ओर रही है। साफ़ बात है कि यह गति यहीं पर ख़त्म नहीं हो जा सकती। मनुष्य-जाति को धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय विकास की ओर बढ़ना होगा। पर वह विश्व का चित्र एमरी, डफ़कूपर, हिटलर, तोजो या रूज़वेल्ट के प्रलापपूर्ण स्वप्न की तरह अधिकार-लिप्सा से निर्मित न होगा।

वह अन्तर्राष्ट्रीय संघटना का एक ऐसा रूप होगा, जिसमें अधिकाधिक मैत्री और सहयोग के लिए प्रत्येक राज्य स्वेच्छापूर्वक अपनी सार्वभौम सत्ता का त्याग करेगा। इसलिए इस युग में द्विराष्ट्रनीति का प्रतिपादन करना उसी तरह होगा, जैसा आज-कल के यांत्रिक युद्धों में सवारों और ऊँट-सवारों का उपयोग।

बहुत से भद्र स्त्री-पुरुषों ने भारत की अनेक जातियों को एक करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। इसमें से अनेक प्रयासों के फल-स्वरूप 'पारस्परिक सद्व्यवहार समितियों' की स्थापना हुई थी। यूँ तो ये समितियाँ अच्छी चीज़ हैं, पर क्या राष्ट्रीय संघटन और सम्मिलन के बिना ऐक्य संभव है? बिना अन्तर्साम्प्रदायिक सम्मिलन के राष्ट्रीय ऐक्य की बातें करना धनात्मक और ऋणात्मक (गरम और ठंडे) विद्युत् तारों को मिलाये बिना बिजली पैदा करने के प्रयास के समान है। जब तक भिन्न-भिन्न जातियों में पारस्परिक मिलन एवं सहयोग संभव नहीं हो जाता, सर्वनिष्ठ राष्ट्रीयता की भावना नहीं आ सकती। एक राष्ट्र की सर्वग्राही भावना उस राष्ट्र के साम्प्रदायिक और जातीय अंगों की अखण्डता पर निर्भर है।

अखण्डता और एकता

अखण्डता और एकता के बीच का अन्तर प्रकट करना बाल की खाल निकालना नहीं है। इन दोनों में एक महत्त्वपूर्ण और वास्तविक अन्तर है। वह अन्तर समस्या के प्रति हमारे दृष्टिकोण और समस्या को हल करने के ढंग पर भी प्रभाव डालता है। अखण्डता वा स्वयंपूर्णता चेतन वा जीवबोधात्मक है; ऐक्य राजनीतिक है। अखण्डता या अभिन्नता मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तत्वों का विचार करती है; ऐक्य क़ानूनी भावों और स्थितियों पर आश्रित है। अखण्डता में जीवन्मय सामञ्जस्य है; ऐक्य कार्य-विशेष के लिए एक समझौता है। अखण्डता एवं अभिन्नता तो जीवन, परम्परा, वफ़ादारी और साहचर्य के एक वृहत् और ऊँचे समन्वय की ओर ले जाती है। बिना अखण्डता की भावना के ऐक्य तो अपने कार्य-

विरोध के प्रतिपादन के बाद ठेके की तरह समाप्त हो जाता है। इंग्लिस्तान बड़ी ख़ुशी से युद्ध-काल तक के लिए रूस से समझौता कर सकता है, परन्तु यह निश्चय है कि आँग्ल-सोवियत सम्मिश्रण के विचार से ही चर्चिल-जैसों को मिर्गी के दौरे आने लगेंगे। भारत में अन्तर्साम्प्रदायिक अभिन्नता बड़ी और छोटी सभी जातियों के सामञ्जस्य की द्योतक होगी और ऐसी ही भावना एक सर्वनिष्ठ राष्ट्रीयता के आदर्श के लिए प्रयास करने में अधिकाधिक सहायक होगी। केवल कूटनीति से प्राप्त कोई भी हिन्दू-मुस्लिम एकता तो खिलाफ़त के दिनों-जैसी क्षणभंगुर ही होगी।

साम्प्रदायिक ऐक्य बनाम जाति-समन्वय

जाति-समन्वय साम्प्रदायिक मिलन से अधिक कठिन है, क्योंकि जाति-भेद की जड़ें साम्प्रदायिक भेद से कहीं अधिक गहरी हैं। उनका क्षेत्र भी काफ़ी बड़ा है। फिर भी इतिहास ऐसे रोचक समन्वयों से भरा पड़ा है। ब्रिटेन को ही लीजिए; कोई भी देश ब्रिटेन की भाँति दृढ़ ऐक्य-बंधन में बँधा नहीं है। परन्तु, सब अंग्रेज़ एक जाति के नहीं हैं। कम से कम आधी दर्जन जातियाँ ब्रिटेन में साथ-साथ आईं; उनमें घोर संघर्ष हुआ; भीषण लड़ाइयाँ हुईं पर ऐतिहासिक धारा टूटी नहीं। भारतवर्ष में ही इन्डोआर्यन, द्रविड़, मंगोल, आर्यद्रविड़, द्रविड़-मंगोल, सीदियन-द्रविड़ और तुर्की-ईरानी जातियाँ मिलीं और धीरे-धीरे पूरी हिन्दुस्तानी हो गईं। इसका परिणाम भी उतना भयंकर नहीं हुआ, जितना साम्राज्यवादी या उनके किराये के टट्टू दुनिया को बताना चाहते हैं। 'असहिष्णु' और 'संकुचित मस्तिष्कवाले' आदि गालियों के बावजूद, जो पेशेवर प्रचारक हमारे नेताओं पर आरोपित करते हैं, भारत के जाति-समन्वय ने तमाम दुनिया के सामने 'जियो और जीने दो' का अभूतपूर्व आदर्श रखा है। उस आदर्श ने हम भारतीयों के मस्तिष्क इतने उदार बना दिये हैं कि हम प्रत्येक भाव एवं प्रभाव के प्रति ग्रहणशील हैं। ऐसे अवसरों पर हमारे सामने जाति या वर्ण की कोई भी चहारदीवारी नहीं

होती। यह जीवन हमारे अन्दर बुराई के स्वयं विनाश की वह विश्वस्त धैर्यवान् भावना भर देता है, जो अधीर पश्चिमी लोगों को बहुत अखरती है। कोई भी वस्तुवादी उन परस्पर-विरोधी शक्तियों के बीच से पैदा होनेवाली वस्तुओं में केवल अच्छाई-अच्छाई की ही आशा नहीं कर सकता, जो सभ्यता और मानवीय विकास के रूप और प्रवृत्ति को निर्धारित करती रहती हैं। भारत में जातिगत क्रिया-प्रतिक्रियाओं के कारण एक तरफ़ तो हिन्दुओं में वर्णभेद बहुत सख्त हो गया और दूसरी तरफ़ मुसलमानों में हीनता की भावना पैदा हो गई, जिसके अनेक दुःखद रूप दिखाई पड़े। इसके कारण दोनों के बीच एक ऐसा मानसिक पर्दा खड़ा हो गया जो पुराने भेद-प्रभेदों पर बहुत ज़ोर देता है। इन्हीं तीन कारणों से भारत में उस सामाजिक क्रान्ति में देर हो रही है, जिसे यहाँ के वातावरण को निर्मल बनाने और अभिन्नता की अन्तिम सीढ़ी को नज़दीक लाने के लिए बहुत साल पहिले हो जाना चाहिए था। संयोजन से सामाजिक क्रान्ति निश्चित-सी हो जाती है और ऐसी ही सामाजिक क्रान्तियों के द्वारा हम एक जीवित और ठोस ऐक्य प्राप्त कर उसे सुदृढ़ कर सकते हैं।

पर हताश होने का कोई कारण नहीं है। बारह शताब्दियों से यह अन्तर्साम्प्रदायिक मिलन की धारा प्रवाहित होती रही है। यदि भारतीय संगीत, कला, शिल्प या कविता को छोड़ दें तो भी सिख-धर्म, ब्रह्म-समाज और चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों के भक्ति-आन्दोलनों को ही देखिए। सच बात तो यह है कि यदि यह एकता की भावना इतनी दूर तक न जा चुकी होती, तो लीग या महासभा को सम्प्रदाय-विरोधी भावनाएँ बढ़ाने के लिए इतनी कोशिशें न करनी पड़तीं। अकबर का एक हिन्दू-स्त्री से विवाह करना न केवल इस बात की स्वीकृति थी कि हिन्दुस्तान अखण्ड है, वरं पृथक्करण की सभी भावनाओं और नीतियों को तोड़ डालने के लिए वह एक ज़ोरदार क़दम था। पाकिस्तान का राक्षस तो इतिहास के गुलेल के एक ही कंकड़ से आज या कल गिर कर मर जायगा।

अखंड-राष्ट्रीय संयुजन की धारा का प्रवाह न कभी अविरल रहा, न रह सकता है। उस समय तक यह विरोध-संघर्ष, और पारस्परिक कटुता विद्यमान रहेगी, जब तक किसी प्रामाणिक समन्वय में इन स्वयं-विरोधी सत्ताओं का समागम नहीं हो जाता। भारतवर्ष के इसी संघर्ष को साम्प्रदायिक समस्या कहते हैं। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने "कम्यूनल अवार्ड" जैसे नुस्खों से इस समस्या को मिस्र की मेमियों की भाँति सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। प्रत्येक वस्तु का लघुत्तम समापवर्त्तक तक ही घटा कर उसकी समाजिक शक्ति का अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। साम्प्रदायिक समस्या एक जटिल समस्या है और इस मसले को सुलझाने के लिए, उस जटिलता का पूर्ण ज्ञान, और सुलझाव का ईमानदार प्रयास अपेक्षित है। लीग की नीति के बारे में महात्मा गांधी की यह घोषणा, मसले को, उसकी जटिलता को काफ़ी सरल कर देती है—"या तो लीग का यह विश्वास है कि भारतवर्ष मुसलमानों का घर है या नहीं। यदि वह यह विश्वास करती है तो उसे बाँटने के पहिले अपने घर को आज़ाद कर लेना चाहिए। आज हमारे पास बँटवारा करने को कुछ है ही नहीं। पहिले विदेशी मालिकों से रिहा कर, बाद में इसका बँटवारा—समझौते या ताक़त से—चाहे जैसे कर सकते हैं। मगर यदि वे लोग हिन्दुस्तान को अपना घर ही नहीं समझते तो भारत को ग़ुलामी से मुक्त करने के लिए पारस्परिक समझौते का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।"

साम्प्रदायिक समस्या के मूल में

भारत की साम्प्रदायिक समस्या वास्तव में 'धर्ममूलक राजनीतिक' एवं 'समाजतत्त्वमूलक आर्थिक' समस्या है जो सुलझने पर भारत को विश्व के सम्मुख ऐक्य का आदर्श बना देगी। हिन्दुओं में जाति-भेद धर्ममूलक राजनीतिक और समाजतत्त्वमूलक आर्थिक समस्या के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उसने हिन्दुओं के अन्दर एक विजातीय या पृथक्करण का भाव पैदा कर दिया है। दूसरी ओर अल्पसंख्यक जातियों का प्रत्येक

व्यक्ति जाति-विहीन है और वर्ण-भेद का विरोध करता है। स्वभावतः यह हिन्दू सामाजिक संघटना के लिए एक भय है। सिख-धर्म और ब्रह्म-समाज में जातिवाद का अन्त हो गया। भक्तिकालीन सामाजिक सुधारों ने भी जाति-व्यवस्था पर कुठाराघात किया। इस व्यवस्था के मिट जाने से अनेक शोषण संभव न हो सकेंगे और इन शोषणों पर पलने वालों की हानि होगी। साथ ही पुरोहित-वर्ग का प्रभाव कम होता जायगा। हिन्दू-समाज-संघटना के लिए यह भय धर्म-परिवर्तन में विश्वास रखनेवाली दो अल्प-संख्यक जातियों—मुसलमान और ईसाई—के कारण और बढ़ गया है। आर्यसमाज भी, जो रात-दिन इस धर्म-परिवर्तन के विरोध में अथक परिश्रम कर रहा है, हिन्दू-जाति को इस भय से मुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं जाति-व्यवस्था का विरोधी है।

मुसलमानों का भय

जो कुछ भी थोड़ी-बहुत आर्थिक सुरक्षा है उसे खो देने के डर, अपने सामाजिक और राजनीतिक अस्तित्व के विनाश के डर, और अपने धार्मिक संघटना के ध्वंस हो जाने के डर से मुसलमानों में लघुता की भावना पैदा होती है, जो प्रायः "मुक्ति-दिवस" और साम्प्रदायिक बलवों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। अन्त में वह भावना आगे बढ़कर उन्हें पाकिस्तान नामक एक ऐसी योजना के सोचने को मजबूर कर देती है, जो अखिल एशिया मुस्लिम-संघ की एक इकाई हो सकेगा। वे हिन्दूधर्म के बीज को इस्लाम का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं। इस्लाम तलवार के बल पर विजय प्राप्त करता है। हिन्दू धर्म अपने विजेताओं को अपने ही अन्दर समा लेने की क्षमता के कारण विजय प्राप्त करता है। सीमाप्रान्त के मुसलमानों में, खान अब्दुलग़फ़्फ़ार खान के नवोत्साह से इस पारस्परिक संघर्ष की गौरवपूर्ण समन्वय क्रिया चल रही है। यह क्रिया-प्रक्रिया न केवल निश्चित ही है, वरं वह इस नीति का भी प्रतिकार करती है कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र हैं।

दोनों जातियों के अन्दर पर्दे का रिवाज संघर्ष का सामाजिक स्वरूप प्रदर्शित करता है। किसी भी जाति की संख्या-शक्ति उसके स्त्री-वर्ग पर निर्भर है। किसी भी जाति में एक स्त्री के कम हो

परदा मनोवृत्ति

जाने से, उसी जाति की अगली पीढ़ियों में चार व्यक्तियों की कमी हो जाती है। इसीलिए वे स्त्रियों को पर्दों के पीछे सुरक्षित रखते हैं। प्रकृति ने उसे सौन्दर्य और आनन्द की देवी तथा शौर्य को उत्साह देनेवाली शक्ति के रूप में गढ़ा था, परन्तु हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में स्त्री ने धर्मप्रधान राजनीतिक या सामाजिक-आर्थिक रूप धारण कर लिया है। इसीलिए उसे पर्दों के पीछे अज्ञान में बन्द रहना चाहिए नहीं तो कहीं वह कूढ़मग़ज़ काफ़िरों के फन्दे में न पड़ जाय।

दूसरी अल्पसंख्यक जातियाँ तो संख्या-वृद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं करतीं। हिन्दुस्तानी ईसाई केवल अपने मालिकों के दाहिने ही रहना पसन्द करते हैं, चाहे वे मिशनरी हों या अफ़सर, और केवल चाय-पार्टियों या ऐसी ही साधारण मीटिंगों में उपस्थित होते हैं। सिख और पारसी अपने विलासी जीवन में ही उस समय तक मगन रहेंगे, जब तक उनके हितों पर कोई आघात न हो। हरिजन अवश्य ही जात-पाँत-विरोधी हैं, पर अभी तक वे अपने को साम्प्रदायिक संघर्ष में भाग लेने की भावना से अलग रखे हुए हैं। शायद इसलिए कि महात्मा जी ने एक हरिजन लड़की को गोद ले रखा है या इसलिए कि उन्होंने उन लोगों के लिए एक सुन्दर नाम खोज लिया है। हरएक सूरत में धर्मशाही, पूँजीशाही और सामन्तशाही के साम्प्रदायिक ठेकेदार, दूसरी जातियों में अपने सहायक खोज, कुछ ढोंगियों को नियुक्त कर ऐसे दाव और पेच चलाते रहते हैं, जिनसे उनके हितों को धक्का न लगने पावे। वे अपने अनुयायियों को अपने भाइयों की हत्या करने के "पवित्र" कार्य में उकसाते रहते हैं और ऐसे कार्यों के प्रतिपादन के लिए "धर्म खतरे में" आदि वाहियात नारे लगाते रहते हैं।

यह तो सर्वमान्य है कि राष्ट्रीय विकास और ऐक्य सामाजिक जीवन

और सांस्कृतिक गति की अनुरूप परम्परा से ही होते हैं। हिन्दू और मुसलमानों की कार्य-परम्परा समान रही है। किसान या मिल-मज़दूर की हैसियत से दोनों को रोज़ी कमाने के लिए एक ही तरह मेहनत करनी पड़ती है। वेतन-भोगी व्यक्तियों के कार्य में भी अधिक अन्तर न होगा; पर उनके अन्दर एक काफ़ी मज़बूत प्रतिद्वन्द्विता की भावना जम गई है, जो स्वस्थ सिद्ध नहीं हुई। चाल-ढाल और आचार-व्यवहार की अन्तर्क्रिया में अन्तर है अवश्य, पर उन सबके अन्दर पर्याप्त ऐक्य भी मौजूद है।

सदियों की सहयोगी जीवन-परम्परा

सांस्कृतिक क्षेत्र में, सामान्य परम्परा को स्थायी बनाये रखने के लिए हिन्दू-मुसलमानों ने साथ-साथ अनवरत परिश्रम किया है। ऊपरी तौर से दोनों धर्मों के बीच न पटने वाली खाई है, पर बारह सदियों से उनके वास्तविक जीवन में एक उज्ज्वल अन्तर्क्रिया होती आ रही है, जिसके कारण केवल भक्ति और सूफ़ी शाखाओं में ही नहीं; वरं साधारण धार्मिक-जीवन, विचार, रीति-रवाज और राग-द्वेष आदि में भी बहुत समानता है। ग्रामों में विशेषकर हमें भेदों की अपेक्षा समानता ही अधिक उपलब्ध है। संघर्ष तो इसलिए हो जाते हैं कि जात-पाँत की व्यवस्था को अभी कोई जाति नहीं तोड़ पाई है। और राजनीतिक रूप से इसलिए कि आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण अंग्रेज़ी शिक्षित मध्यमवर्ग दो साफ़-साफ़ टुकड़ों में विभाजित हो गये हैं।

१८५६ तक मुसलमानों के अन्दर साम्प्रदायिक कटुता के प्रदर्शन का कोई सबूत नहीं मिलता।* १८५३ में पहली बार मुसलमानों की एक बहुत बड़ी सभा कलकत्ता-मदरसा में मुसलमान छात्रों की छात्रवृत्ति बन्द होने के

---

*१८५७ के बाद भारतीय मुसलमानों के धार्मिक-राजनीतिक इतिहास के विद्वत्तापूर्ण अध्ययन के लिए विल्फ्रेड स्मिथ का ग्रन्थ 'माडर्न इस्लाम इन इंडिया' बहुत उपयोगी है।

विरोध में बुलाई गई थी। पर इस कार्य के विरोध में बुलाई गई सभा की भावना की तुलना आज की विरोध-सभाओं की भावना से नहीं हो सकती। डॉक्टर धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी का कहना है—"इस सभा के संगठनकर्त्ताओं की स्तुति करनी चाहिए कि उस सभा में उन्होंने अपना विरोध इस पर नहीं जाहिर किया कि हिन्दुओं के साथ पक्षपात किया जा रहा है, बल्कि उस धर्म-परिवर्तन के विरोध में किया जिसके शिकार सभी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दू-मुसलमान हो रहे थे।"*लेकिन १८५६ में उन्हीं अंग्रेज़ी शिक्षा से दीक्षित मुसलमानों ने कलकत्ते में मुसलमान-संघ (मोहमडेन असोसियेशन) और 'राष्ट्रीय मुसलमान-संघ' (नेशनल मोहमडेन असोसियेशन) संगठित किया। उनके द्वारा पहले पहल मुसलमानों के लिए पृथक् शिक्षालयों की माँग की गई। सन् १८७२ में अलीगढ़ मुस्लिम-कॉलेज (अब की मुस्लिम यूनिवर्सिटी) की स्थापना हुई। अलीगढ़-शैली के राजनीतिज्ञों को पृथक्करणवाली उस नीति की स्पर्धा को विकसित करने में देर न लगी, जिसके लिए वह प्रसिद्ध है। सन् १८८१ में नेशनल मोहमडेन असोसियेशन द्वारा लॉर्ड रिपन के सामने एक मसविदा पेश किया गया जिसमें मुसलमानों की शिक्षा के प्रति सरकार से एक नई नीति वर्तने की माँग की गई थी। तर्क यह था कि इस तरह से मुस्लिम जाति की अवस्था सुधर सकती है।

साफ़ बात है कि केन्द्रीय सरकार मोहमडेन असोसियेशन की ओर से कुछ ऐसी ही चाल की आशा कर रही थी। उसने बिना कुछ समय गँवाये ही यह घोषणा की कि ऊँची नौकरियों के लिए सिवाय परीक्षाफलों से प्रकाशित योग्यता के और कोई योग्यता नहीं देखी जा सकती। लेकिन उसने (केन्द्रीय सरकार ने) एक शरारत की। उसने यह सुझाव पेश किया कि

पृथक् प्रतिनिधित्व का आरंभ

---

*'मार्डन इंडियन कल्चर' पृष्ठ ११६-२०

हाईकोर्ट, स्थानीय सरकार या अफ़सर, हिन्दू और मुसलमान नौकरों में अनुपात रखकर इस असमानता को दूर कर सकते हैं। यदि स्थानीय सरकार या स्थानीय अफ़सरों पर कुछ भी प्रभाव डालना था तो उसके लिए केवल एक रास्ता था कि स्थानीय राजकीय संस्थाओं में पृथक् प्रतिनिधित्व हो। शायद इसीलिए सन १८८३ में मि० मुहम्मद यूसुफ़ ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की इच्छानुसार पृथक् प्रतिनिधित्व की दो कारणों से माँग की, पहली कि शिक्षा-कार्य अभ्यास से आ सकता है और दूसरी यह कि जब तक जनता के इन दो दलों में प्रतिशोध और दलवन्दी की भावनाएँ हैं, अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए सरकार को सुरक्षित स्थानों का नियम बनाना आवश्यक है। यह राजनीति में साम्प्रदायिकता का आरम्भ था। ११ सदियों के निकटतम सांस्कृतिक एवं जातीय समन्वय के पश्चात् दोनों जातियाँ एक दूसरे का गला घोंटने को छोड़ दी गईं। इस फ़साद की जड़ सरकारी नौकरी थी। मॉर्ले-मिंटो सुधार ने सरकारी रूप से इस पृथक्करण नीति का समर्थन कर दिया। पाकिस्तान उसी मार्ले-मिंटो सुधार के अन्दर प्रतिपादित पृथक् प्रतिनिधित्व की नीति का स्वाभाविक फल है।

अंग्रेज़ी शिक्षित मध्यमवर्ग ने अपने आर्थिक स्वार्थों के लिए साम्प्रदायिकता को एक राजनीतिक रूप दिया और जात-पाँत के भेद-भाव ने इसे धार्मिक रंग दे दिया। तत्पश्चात् कट्टर हिन्दू और मुसलमानों के विकृत एवं जोशीले व्याख्यानों से साम्प्रदायिकता एक पूर्ण विकसित धार्मिक राजनीतिक, एवं आर्थिक-सामाजिक मनहूस चिड़िया बन गई। यद्यपि यह सब सत्य है, पर इसके यह मतलब नहीं कि दोनों जातियों के बीच कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक परम्परा की एकरूपता न हो। डॉक्टर धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी संयुक्तप्रान्त के कायस्थ और काश्मीरी ब्राह्मणों के उदाहरण को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि "ये अपनी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रीति-रवाज, रहन-सहन, तमीज़दारी इत्यादि में मुस्लिमलीगियों की तरह ही इस्लामी हैं।" कम से कम घरेलू और सामाजिक रहन-सहन में तो बहुत

ही साम्य है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही परिवार बनाकर रहते हैं। राजनीतिक तबकों में मोमिन, अहरार, जमायत-उल-उलमा और राष्ट्रीय मुसलमान अधिकतर कांग्रेस के पक्षपाती रहे हैं, और उन्होंने लीग का विरोध किया है।

चूँकि इस साम्प्रदायिकता के बहाने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चालीस करोड़ आदमियों का शोषण करने का मौका मिलता है, स्वभावतः वह इसे क़ायम रखना चाहती है। यद्यपि हम लोग सदैव हिन्दू-मुस्लिम समझौते में विश्वास रखते रहे पर विभिन्न जातियों के जीवन, विचार और भावों में आन्तरिक सामञ्जस्य लाने के प्रति सदैव उदासीन रहे। मुँह से हम सदैव ऐक्य और पारस्परिक सहानुभूति की घोषणा करते रहे, पर प्रत्यक्षरूप से हमने स्वीकार ही न किया कि हमें एक-दूसरे की आवश्यकता है। हमने साम्प्रदायिक समस्या को सदैव राजनीतिक मशीन के द्वारा यांत्रिक रूप से दूर करने की कोशिश की, पर सदा वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूतियों की अवहेलना की है। इसी तरह (अज्ञात रूप से) हमने दानवी शासकों की कूटनीति को स्थायी रखने तथा व्यक्तिगत और सामाजिक प्रेरणाओं से पूर्ण भारत की धरती में फूट के बीज बोने में उन्हें मदद दी है। जिनको नियति ने एक राष्ट्र और एक जाति बनने के लिए एकत्र किया था—एक जाति और राष्ट्र, जो अपनी तथा समाज की भलाई के लिए अपने स्वतंत्र व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करते हुए भी एक सर्वनिष्ठ राष्ट्रीयता पर गर्व कर सकें, उन्हें छूछे व्यक्तिगत सम्मान और किसी भी मूल्य पर सामाजिक सुरक्षा एवं विस्तार का लोभ देकर विभाजित किया गया।

राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता

फिर भी अनेक स्वार्थपरायण शक्तियों के भेद-मूलक एवं विभेदवर्द्धक प्रयत्नों से भी समन्वय-धारा की गति में रुकावट नहीं पड़ी। हम राष्ट्रीय एकता की प्रधान आवश्यकताओं का पता उन क्षेत्रों का अनुशीलन कर लगा सकते हैं, जहाँ राष्ट्रीय समन्वय की गति रुकी नहीं। कश्मीर में, जहाँ

जनता अधिकांश मुसलमान है पर राजा हिन्दू, या हैदराबाद जहाँ जनता अधिकतर हिन्दू है पर निज़ाम मुसलमान, हमें अंग्रेज़ी क़ब्ज़े वाले सिन्ध और ढाका इत्यादि से कहीं कम साम्प्रदायिक विद्वेष मिलता है। सास्प्रदायिक और राष्ट्रीय सम्मिलन और अनुराग की प्राप्ति के लिए एक राष्ट्रीय सरकार विदेशी सार्वभौम सत्ता से कहीं अधिक वाञ्छनीय है। यदि राष्ट्रीय संयुजन और मिलन की चेतना का कार्य संस्कृति या मानसिक गति की सामान्य परम्परा से ही निर्माण होता है तो वह परम्परा केवल राष्ट्रीय सरकार-द्वारा ही उपस्थित की जा सकती है। राष्ट्रीय सरकार ऐसी ऐक्य की परम्पराओं को बढ़ाती है और वैसी नई प्रेरणाएँ और परम्पराएँ भी निर्माण कर सकती है। राष्ट्रीय परम्पराओं के सम्बन्ध में कोई विदेशी सरकार उतनी प्रभावपूर्ण रीति से कार्य नहीं कर सकती, जैसे राष्ट्रीय सरकार कर सकती है। विदेशी सरकार तो अपनी अधिकार-सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए उन मृदुल परम्पराओं को तोड़ने की ही कोशिश करेगी। समाज-विज्ञान तो इतिहास की इस शिक्षा की पुष्टि ही करता है कि विकासोन्मुख राष्ट्र की प्रथम आवश्यकता राष्ट्रीय सरकार है—ठीक उसी तरह जैसे पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए विचार-स्वातंत्र्य सर्वाधिक आवश्यक है।

हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध शहरों की अपेक्षा भारत भर में फैले हुए हज़ारों गाँवों में बहुत सुघर हैं, क्योंकि गाँव साम्राज्यवाद के चंगुल से अपेक्षाकृत दूर पड़ते हैं। इसी कारण हमारे गाँव अपने परस्परावलम्बी-जीवन और अन्तर्सम्बन्ध की चेतना को अभी तक सुरक्षित रख पाये हैं। हरएक पहलू की बातें बिना अधिक झगड़े-फसाद के तय कर ली जाती हैं। राष्ट्र-संघटना की दूसरी महती आवश्यकता है—परस्पर-निर्भरता की भावना। एक-दूसरे पर निर्भर रहने की भावना हमें सदैव यह याद दिलाती रहती है कि हम एक जनता—एक राष्ट्र हैं और यह कि हम अनेक आवश्यकताओं से, जीवन के अनेक स्थलों में एक-दूसरे से बँधे

हुए हैं। परन्तु इसके विपरीत यदि अब भी कोई दल यह विश्वास करता है कि उसे अन्य राष्ट्रीय दलों पर नहीं वरं किसी विदेशी सत्ता पर निर्भर करना है तो स्वभावतः उसकी नमकहलाली किसी और ही तरफ़ होगी। ऐक्य तो सदा पारस्परिक सम्बन्ध की भावना का फलस्वरूप है।

काँग्रेस, ट्रेड यूनियन, किसान सभा, हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी, छात्रसंघ आदि क्रान्तिकारी संस्थाओं में विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति हैं, जिनमें काफ़ी पारस्परिक सहयोग और व्यवहार है। राष्ट्रीय समन्वय और उत्थान के लिए क्रान्तिकारी दृष्टिकोण तीसरी महती आवश्यकता है। ऊपरी तौर से दक़ियानूसी लोगों में अधिक एकता मालूम होती है। हम लोगों ने प्रायः देखा ही है कि एक दक़ियानूसी किस उत्साह से अपने उस सहयोगी दक़ियानूसी के पास उछल कर उसे प्रोत्साहन देता है जो बेहयाई से पुरानी व्यवस्था का समर्थन करे। परन्तु दक़ियानूसियों की यह एकता विरोध की एकता है। वह गरमदल वालों के कार्य-क्रम की निन्दा करने में एकता बरतेंगे ही। परन्तु जिस समय कोई ऐसा विरोध न रहेगा, स्वयं एक दूसरे को शङ्कित दृष्टि से देखेंगे। दूसरी तरफ़ क्रान्तिकारी दृष्टिकोण मनुष्यों को केवल मुसीबतों और संघर्षों के बीच ही नहीं एक करता। उनमें पुरानी व्यवस्था को एकदम उलट देने की भावना से एक स्थायी एकता पैदा होती है, जो उनकी चिन्ता, विचार-धारा, और कार्य-क्रम को एक में बाँधती जाती है। क्रान्तिकारी दृष्टिकोण सामान्य मानसिक परम्परा बनाने में सहायता देता है और नव मूल्यों की माला जोड़ता है। क्रान्तिकारियों के अन्दर का यह प्रतिष्ठित ऐक्य किसी पूँजी, हिताधिकार या सुविधाओं के ऊपर आश्रित न होकर उनकी सामान्य साहसिकता और परिवर्त्तन की आवश्यकता में विश्वास के ऊपर टिका होता है।

राष्ट्रोत्थान की चौथी आवश्यकता है अर्थ-पूर्ण रंगीन राष्ट्रीय त्यौहारों का जन्म और उनके उत्सव, जिनमें हिन्दुस्तानी साम्प्रदायिकता के बंधनों से परे हिन्दुस्तानियों के रूप से भाग ले सकें।

ऐसे उत्सवों और त्यौहारों का मुख्य महत्व उनके द्वारा जन-समूह पर पड़ने वाला मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। समूह-भक्ति का यह सामूहिक प्रदर्शन छोटे-छोटे राष्ट्रीय मतभेदों से ऊँचा रहेगा। उनके अन्दर सामूहिक चेतना का प्रदर्शन होगा, जिससे उनके द्वारा नवीन सामूहिक जीवन-चेतना की जाग्रति होगी। ऐसे राष्ट्रीय उत्सवों में भाग लेनेवाले प्रत्येक वर्ण-वर्ग और जाति के समस्त स्त्री, पुरुष और बालक अपनी संयुक्त शक्ति का आभास पा सकेंगे। साथ-ही-साथ ऐसे उत्सव, ऐसी अवस्थाएँ भी उत्पन्न करेंगे जिनसे अन्तर्साम्प्रदायिकता आपसे आप विकसित होगी। जब दूसरे दल ऐसे राष्ट्रीय उत्सवों में शरीक होते हैं, कोई भी दल पीछे रह कर नक्कू न बनना चाहेगा। राष्ट्रीय चेतना के विकास में समाजप्रियता की चेतना बड़ी ज़रूरी है। इस भावना से कितनी ठोस एकता, और संयुक्त कार्य-शक्ति उत्पन्न हो सकती है यह फ़ासिस्टवाद ने दिखा दिया है। यद्यपि मेरा मतलब फ़ासिज्म की बड़ाई करने का नहीं है तब भी हमें इतना तो उदार होना ही चाहिए कि उन वस्तुओं का सदुपयोग कर सकें, जिनका दूसरों ने दुरुपयोग किया हो। कुछ भी हो, विदेशी राज्य के अन्दर ऐसे राष्ट्रीय त्यौहारों की आशा तो दुराशा-मात्र है।

सामान्य राष्ट्रीय त्यौहारों का महत्व

इस बात को दुहराना अनावश्यक है कि साम्प्रदायिक ऐक्य-निहित राष्ट्रीयता की सर्वतोमुखी विकास-धारा के लिए स्वतंत्रता की अवस्था तो पूर्वनिश्चित शर्त है। स्वतंत्रता के बिना ऐसे उत्सवों के बारे में सोचना तो बिना मेज़बान के दावत देना है। और समन्वय के बिना ऐक्य के बारे में सोचना तो केवल घोड़े के आगे गाड़ी रख देना है और यह आशा करना है कि घोड़ा गाड़ी को खींच ले जाय। राष्ट्रीय विकास के लिए चारों प्रमुख आवश्यकताओं को उपस्थित कर, उनके लिए समुचित स्थिति उत्पन्न कर उद्भूत होनेवाली क्रान्ति की ज़िम्मेदारी केवल राष्ट्रीय सरकार ही अपने ऊपर ले सकती है। यह अचरज की बात है कि हमारे अमरीकन

और अंग्रेज़ी आलोचक यही कह रहे हैं कि स्वतंत्रता के पहले एकता होनी चाहिए। यह तो अत्यन्त भ्रमात्मक है। ऐसा मालूम होता है जैसे जंज़ीरों से जकड़ा हुआ, चट्टानों से बँधा हुआ प्रामीथियस उनके लिए एक पुल बनाकर तैयार कर दे। वे लोग वृक्ष लगने के पूर्व फल देखना चाहते हैं। क्या तानाशाही इससे भी अधिक वक्र हो सकती है? क्या वक्रता इससे भी भयंकर हो सकती है? एकता, विकास, राष्ट्र-भक्ति भावना, राष्ट्रीय हित तो स्वतंत्रता के साधारण फल हैं। उन छोटे-छोटे राष्ट्रों और देशों को, जो नाज़ियों द्वारा बेरों की तरह कुचल कर अधीन कर लिये गये थे— स्वतन्त्रता का जन्मसिद्ध अधिकार दिया जा सकता है, परन्तु उसी हक़ का हिन्दुस्तान जैसे वृहत् देश के लिए इन्कार है।

राष्ट्र का वह स्वप्न!

यद्यपि ऐसे दानवता के पुजारियों को नष्ट करने के लिए हमारा स्वर्ग से अग्नि-वर्षा का वरदान माँगना अनुचित न होगा फिर भी हमें कुछ उदार होना चाहिए। हम लोग, जिन्होंने सदियों साथ-साथ कष्ट और मुसीबत बर्दाश्त की है; गुलामी झेली है; जिन्होंने भूख और मुफलिसी देखी है, और अपनी पीड़ाओं से अविजित शक्ति के गौरव को पा लिया है, उन लोगों के प्रति करुणा रख सकते हैं जो यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। याद रहे कि इतिहास की सनातन शक्तियों ने ब्रिटेन को अज्ञात रूप से भारत और एशिया के क्रान्तिकारी विकास के अचेतन यंत्र के रूप में प्रयोग किया है और यह स्वाभाविक है कि कार्य पूर्ण हो जाने के पश्चात् इस यंत्र और साधन का त्याग कर दिया जाय। इसे स्मरण करके हमें अपने पथ पर अग्रसर होना चाहिए। हमें लोगों के अन्दर क्रान्तिकारी दृष्टिकोण पैदा करना चाहिए। हमें अपने अथक परिश्रम और धैर्य से उन स्थितियों का अन्त कर देना चाहिए जो किसी भी रूप में प्रकट होकर भेद-बुद्धि कर सकती हैं। स्वतंत्रता के आदर्श से प्रेरित हो व्यक्तियों और संस्थाओं को अन्तर्साम्प्रदायिक मार्ग पर बढ़ते हुए ऐक्य और सहयोग की

स्थिति पैदा करनी चाहिए। जितने जोश और उत्साह से कांग्रेस ने अपना चुनाव का कार्य-क्रम चलाया, अगर उससे आधे उत्साह के साथ भी रचनात्मक कार्य-क्रम विभिन्न प्रान्तों में चलाया होता तो ऐसे सहयोग की प्राप्ति अवश्य हो चुकी होती। राजनीतिज्ञों की सनकों से साम्प्रदायिक समस्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राष्ट्र के स्वरूप, समन्वय और विकास के लिए जनता के शिक्षित एवं संस्कृत संकल्प-बल को एकत्र करना होगा। साम्प्रदायिकता तो जाति-व्यवस्था में निहित कबीले की सामूहिक भावना से उलटी चीज़ है जो इतिहास की द्वंद्वात्मक शक्तियों के द्वारा भारत को संघर्षों के बीच से सामाजिक और राजनीतिक ऐक्य के उच्च स्तर पर पहुँचावेगी। साम्प्रदायिकता सदा नहीं रहेगी; वह तो स्वयं अपना नाश करनेवाली है। वह अपने ही ध्वंस के लिए अवस्थाएँ पैदा कर रही है, पर हम जिस भावी भारत का स्वप्न देखते रहे हैं उसकी पूर्ति का दिन, इन ऐतिहासिक शक्तियों को सहयोग देकर निकट ला सकते हैं,—वह स्वप्न, जिसमें भारत माता ऐंग्लो-अमेरिकन व्यापार के बाज़ार में एक किनारे बैठी, एक भिखारिणी न होकर, चालीस करोड़ हृदयों की अधिष्ठात्री रानी माँ होगी, जिसके सिर पर ४० करोड़ हृदयों की अविरल भक्ति का मुकुट होगा। वह देश न हिन्दुस्तान होगा, न पाकिस्तान! वह होगा आज़ाद और वीर लोगों का आज़ादिस्तान या वीरस्थान, जहाँ न्याय और भ्रातृत्व कोरे आदर्श न हो देश के सर्वमान्य स्थापित नियम होंगे।

[४]

गरीविस्तान

प्रकृति की इच्छा थी कि भारत में मधु और क्षीर की नदियाँ बहें, किन्तु वही आज निर्लज्ज भिखमंगों का देश हो गया है। प्रकृति की तो यह मंशा थी कि भारत में आन्तरिक सीमाएँ न हों; परन्तु हमारा वही देश आज फूट और भेद-भाव के लिए उदाहरणीय हो गया है। क्या (वास्तव में) फूट और भिक्षावृत्ति में कार्य-कारण का सम्बन्ध है? भौगोलिक दृष्टि से भारत एक और अविभाज्य देश है। यदि शताब्दियों के काल-प्रवाह में यहाँ कुछ वैदेशिक, जातीय, धार्मिक या सांस्कृतिक तत्त्व आये तो क्या आश्चर्य? रहने के अयोग्य भूमध्यरेखा के क्षेत्रों या ध्रुव प्रदेशों को छोड़ कोई देश ऐसा न होगा जो विभिन्न जातियों एवं संस्कृतियों के गुम्फन की ऐतिहासिक धारा के स्पर्श से बच गया हो। प्रत्येक देश में एक से अधिक जातियाँ पाई जाती हैं। बलगेरिया, ज़ेकोस्लोवेकिया, अलबानिया-जैसे छोटे प्रदेशों में, जो भारत के सामान्य प्रान्तों से भी आधे हैं, अल्पसंख्यक जातियों के प्रश्न मिलते हैं। चूँकि विचार-विनिमय और जाति-मिलन की यह क्रिया शताब्दियों से चली आ रही है, कोई देश साम्प्रदायिक समस्याओं से बच नहीं सका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में जाति-प्रणाली के कारण यह सवाल बहुत जटिल हो गया है पर यह कहना भ्रमात्मक है कि

भ्रमात्मक प्रचार

संसार के सब देशों के बीच अकेले भारत में ही प्रतिद्वन्द्वी सामूहिक स्वार्थों को राष्ट्रीय सामञ्जस्य में बदलने की समस्या पाई जाती है।

बात यह है कि यद्यपि संसार के प्रत्येक देश में अल्पसंख्यक जातियों की समस्या किसी न किसी रूप में मिलती है, पर हर देश को साम्राज्यवाद-द्वारा न्याय और बटवारा करने का दुर्भाग्य प्राप्त नहीं है।

ब्रिटिश धाय की छाया में

ब्रिटिश साम्राज्यवाद झगड़े निबटाने की कला का विशेषज्ञ है। युरोप में इँगलिस्तान ने देशों का विभाजन करने की नीति अपनाकर बड़ा लाभ उठाया। फिर क्या भारत में आने से तेंदुए का स्वभाव कुछ दूसरा हो जायगा? इसीलिए उसने मार्ले-मिंटो सुधारों के उपरान्त भारत में अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सीमाएँ—दीवारें—खड़ी कर दीं। और तब से वह इसी बात से हमारे कान भरता रहा है, और विदेशों में ज़ोरों से प्रचार करता रहा है कि हिन्दुस्तानी बुरे स्वभाव के उन फसादी बच्चों की तरह हैं जो कभी मिलकर नहीं रह सकते। इसलिए इन बच्चों में से कुछ को पढ़ाने और कुछ को घरेलू खेलों में लगाये रखने के लिए ब्रिटिश धाय की आवश्यकता हुई। ऐसी दाई के आगे हम बहुत ज़्यादा ऊधमी बच्चे साबित हों तो क्या आश्चर्य! उस ब्रिटिश दाई की सहायतार्थ ब्रिटिश ख़ानसामा भेजा गया। यह एक साफ़-सी बात है कि (सिवाय ग़द्दारों के) सभी बुद्धिमान मनुष्य यह समझ गये हैं कि इस धाय और खानसामा की उपस्थिति उसी समय तक संभव है, जब तक हम आपस में लड़ते रहें। यदि बड़े होने पर हम मेल से रहने लगें तो फिर इन लोगों को भारत छोड़ना ही पड़ेगा। यदि हम सब समझ सकते कि इस फूट का वास्तविक मूल्य क्या है तो कदाचित् हम सब मृत्यु और विशृङ्खलता के इन सब प्रयासों का अन्त करने की कोशिश करते।

व्यंग-से लगने वाले शब्द 'सिविल सर्विस' (शिष्टतापूर्ण सेवा) के अफसरों का पेट भरने, स्टर्लिङ्ग ऋण पर दिये जानेवाले व्याज इंगलैंड

के सरकारी खज़ाने में भेज देने, फौज को सन्तुष्ट करने तथा इस ब्रिटिश धाय और खानसामा का मेहनताना आदि अदा करने के पश्चात् भारत में खर्च करने के लिए आय का केवल १० सैकड़ा बच जाता है। भारत में ब्रिटेन के इतने आर्थिक हित हैं कि उनकी रक्षा के लिए इतने बड़े सिविल या फौजी बजट की, जिसकी दुनिया में कहीं मिसाल नहीं, उसे ज़रूरत पड़ती है। ब्रिटेन ने तमाम और दुनिया में जो पूँजी लगा रखी है वह चार अरब पौंड है, जब अकेले हिन्दुस्तान में उसकी एक अरब पौंड की पूँजी लगी है। इसके अर्थ यह हैं कि अकेले भारत में लगी पूँजी समस्त संसार में लगी पूँजी की चौथाई है। प्रत्येक वर्ष केवल इसके सूद में ६५ करोड़ रुपये देने पड़ते हैं। आखिर इस पूँजी का क्या उपयोग हुआ? थोड़ा-सा नहरों और रेलों के बनाने में खर्च हुआ। परन्तु इतने बड़े जन-ऋण का कारण है—भारत में भारी पूँजी का बंजर उद्योगों में लगाया जाना और भारत का अपना धन खर्च करके अँग्रेज़ों के हित में, अनेक वैदेशिक युद्धों में लड़ना। १८५७ के अबीसीनिया के युद्ध में ६ लाख पौंड, १८७५ में पेराक के हमले में ४१ हज़ार पौंड, दूसरे अफ़गान युद्ध में १ करोड़ ७० लाख पौंड, १८८२ के मिस्र के युद्ध में १२ लाख पौंड, १८८२-१८६१ तक में उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त के धावे के लिए १३ लाख पौंड, १८८६ के बर्मा-युद्ध के लिए ४७ लाख पौंड तथा पिछले युरोपीय महायुद्ध (१६१४-१८) में २५ करोड़ पौंड भारत के खज़ाने से दिया गया। क्या ये भारी रक़में उन अल्पसंख्यकों के हित में लगाई गई थीं जो वायसरायों और भारत-मंत्रियों को इतने प्रिय हैं?

अनुत्पादक व्यय

इस आर्थिक बरबादी से सबसे अधिक क्षति यह हुई है कि इन बेहूदा खर्चों के कारण राष्ट्र-निर्माणकारी योजनाएँ काम में नहीं लाई जा सकतीं। सन् १६३१ में एक भारतीय की शिक्षा के ऊपर औसतन एक रुपया साल खर्च किया गया था (आज तो वह घट कर आठ या

नौ आने प्रति व्यक्ति ही रह गया है) ; उसी समय जापान में फ़ी आदमी ११, ब्रिटेन में ३२, कनाडा में ४८ और अमेरिका में ६५ रुपये ख़र्च किये गये। रूस में पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा पर ५८ रुपये खर्च किये गये थे। क्या इससे यह पता नहीं चलता कि इंगलिस्तान ने कितने भद्दे ढंग से अपने उस संरक्षक ('ट्रस्टी') पद के उत्तरदायित्व को पूरा किया है। क्या इसका असर हिन्दू-मुसलमान—दोनों—पर एक-सा नहीं पड़ा है? यदि राष्ट्र की शिक्षा की अवहेलना की गई है तो सभी जातियों का नुक़सान हुआ है। भारत के ७२ प्रतिशत लोगों के अशिक्षित होने से प्रत्येक जाति के जन समानरूप से उस अपमान और दुर्दशा के भागी हैं। अब ऐसी अवस्था में क्या अधिक आवश्यक है, हिन्दी या उर्दू पर आना दो आना ज़्यादा खर्च हो जाने पर लड़ना या ऐसी परिस्थितियों को बरबस पैदा करना जिसमें शिक्षा पर करोड़ों खर्च किये जा सकें!

जब राष्ट्रीय आय का केवल ढाई प्रतिशत सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिए मिल पाता है तो हम अपने देश में संसार की सबसे बड़ी मृत्यु-संख्या की आशा न करें तो क्या करें!

हमारी दुर्दशा

सन् १९२०-३० तक भारत की औसत मृत्यु-संख्या प्रति हज़ार साढ़े चौबीस थी। उसी समय जापान में वह १८·१७, जर्मनी में ११·१ और ब्रिटेन में साढ़े बारह थी। उम्र का औसत देखिए तो जापान में ४४·५, इंगलैंड में ५७·६ और अमेरिका में ५६·४ साल है पर हिन्दुस्तान में सिर्फ़ २६·७ साल है। क्या प्रत्येक सम्प्रदाय अपने हज़ारों तरुणों को उनकी भरी जवानी में में नहीं खो देता? जिन रोगों से बचने के उपाय आसानी के साथ किये जा सकते हैं वे भी हमारी अधिक मृत्यु-संख्या का कारण बन जाते हैं। किस लिए? सिर्फ़ इसलिए कि हमारे पास सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा पर खर्च करने के लिए पर्याप्त धन नहीं है। जिस क्षेत्र में भी

एक दफ़ा छूत की बीमारियाँ आ जाती हैं, फिर पूरे क्षेत्र के क्षेत्र को बरबाद कर डालती हैं क्योंकि उस क्षेत्र की सफ़ाई की व्यवस्था उसी प्रकार दरिद्र की दरिद्र रहने दी जाती है। पर इन सब बातों से भी दुःखदायी तथ्य तो यह है कि एक हिन्दुस्तानी की औसत आमदनी लज्जाजनक रूप से इतनी कम है कि भूख और अपर्याप्त भोजन का कष्ट तो मामूली बात है। क्या 'संरक्षकता' का यही अर्थ है? और क्या जब तक हम छोटी-छोटी बातों पर लड़ना बन्द नहीं करेंगे यह व्यवस्था जारी नहीं रहेगी?

आर्थिक दुरवस्था

सच तो यह है कि भारत आज गरीबिस्तान हो गया है। यदि हम एक भारतीय की औसत आय की किसी दूसरे देश के निवासी की औसत आय के साथ सिर्फ़ तुलना करें तो हमारे रोंगटे खड़े हो जायँगे। यदि उदारता के साथ आँका जाय तो भी एक भारतीय की औसत आय ८२ रुपये है। यही जापान में २७१, फ्रांस में ६३६, ब्रिटेन में १०६२, कनाडा में १२६८ और अमेरिका में २०५३ रुपये हैं। ऐसा क्यों है? ब्रिटिश प्रचार तो सदैव यही विश्वास दिलाता रहा है कि प्रधानतः इसकी ज़िम्मेदारी हिन्दुस्तानी मजूर और किसान की सुस्ती और काहिली के ऊपर है। पर अंग्रेज़ों के आगमन से ही तो कोई सूर्य की गर्मी नहीं बढ़ गई। अगर हिन्दुस्तानी मजूर और किसान पहले की अपेक्षा आज कम उत्साही और बलवान है तो उसका कारण यह है कि वह भूख, निराशा और बुरे भोजन का शिकार हो गया है; वह ऐसी स्थितियों के बीच पड़ गया है जो उसके बूते के बाहर हैं। १६६८ ई० में, मुगल राज्यकाल में, १६६३ एकड़ का लगान ३०१ रुपये था; १८२३ ई० में ब्रिटिश आधिपत्य के पश्चात् वही लगान २०८६ एकड़ के लिए २१२१ रुपये हो गया। साथ ही घरेलू उद्योगों के ध्वंस और आधुनिक व्यवसायों की प्रभावहीन वृद्धि के कारण ज़मीन पर भार बराबर बढ़ता गया है। १८८१ ई० में ५८ प्रतिशत आदमी भूमि पर आश्रित थे; १६२७ ई० में, लिनलिथगो कमीशन की जाँच के अनुसार

जन-संख्या के ७३·६ सैकड़ा लोग ज़मीन से निर्वाह कर रहे थे। दूसरे देशों से तुलना कीजिए :—जापान में ५०·३, फ्रांस में ३८, जर्मनी में ३०·३, कनाडा में ३१·२ और अमेरिका में २२ सैकड़ा लोग ज़मीन से गुज़र करते हैं। इन आँकड़ों से खेती-बारी के विनाश के सिवा और किस बात का निष्कर्ष निकाला जा सकता है?

हिन्दुस्तान की एक एकड़ ज़मीन में १३५७ पौंड चावल (पौंड = आधा सेर) और ६५२ पौंड गेहूँ पैदा होता है जब कि जापान में चावल की फ़ी एकड़ पैदावार २७६७ और गेहूँ की १५०८ पौंड है; मिश्र में २३५६ पौंड चावल और १६८८ पौंड गेहूँ, इटली में ४६०१ पौंड चावल और ब्रिटेन में १८१२ पौंड गेहूँ की है। हिन्दुस्तान की ज़मीन आज इतनी नष्ट हो गई है कि इसकी पैदावार दुनिया की सब ज़मीनों की पैदावार से कम है। इसलिए किसानों का पूरा क़र्ज़ा जो १९२१ ई० में ४० करोड़ पौंड था, दस सालों में बढ़ कर ६७½ करोड़ पौंड और बाद के ६ सालों में १३५ करोड़ पौंड हो गया।* क्या मौत के बीच घिसटते हुए, ऐसी दुःसह परिस्थिति में कोई अंग्रेज या अमेरिकन किसान भारतीय किसान से अधिक उत्साह और बलिदान का उदाहरण उपस्थित कर सकता है? हम लोग खुद तो एक दूसरे का छिद्रान्वेषण करने में लगे हुए हैं और उधर कोटि-कोटि जनता इंच-इंच मरती जा रही है। क्या भारत की कोई भी बहुसंख्यक (बड़ी) और अल्पसंख्यक (छोटी) जाति कृषि के इस अवश्यम्भावी विनाशपूर्ण भविष्य से बच सकती है? क्या हिन्दू-मुसलमानों के बीच मैत्री और सद्व्यवहार स्थापित रखने के लिए ही ऐसी स्थिति क़ायम रखी जाती है?

भारत में कृषि और उद्योग-विभाग पिछले युरोपीय महायुद्ध (१९१४-१९१८) के बाद खोले गये, फिर भी भारतीय आय का दो सैकड़ा से भी

---

* युद्ध के बाद स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है।

कम अंश इन पर खर्च होता है। जब यह हाल है, तब हिन्दुस्तान उद्योग-धन्धों में पिछड़ा क्यों न हो ? पर हम कितने पिछड़े हुए हैं इसका अन्दाज़ लोगों को नहीं है। दूसरे देशों में हज़ारों और लाखों आदमी उद्योग-धन्धों में लगते गये हैं। उदाहरण-स्वरूप जर्मनी को लें तो १८७० से १९१४ तक गाँवों से उठकर ढाई करोड़ आदमी उद्योगों में लग गये; लेकिन हिन्दुस्तान में १९११ से १९३१ के बीच उद्योगों में लगे आदमियों की संख्या में उलटे बीस लाख की कमी हो गई। १९३० ई० में ब्रिटिश भारत में सिर्फ़ ८१४८ औद्योगिक संघटन थे और इन वृहत् उद्योगों में अनुमानतः सात अरब रुपये की पूँजी लगी थी, जिसमें तीन अरब भारतीयों की थी। १९२८ में ब्रिटेन में १०७,५०० से भी अधिक औद्योगिक संघटन थे। जिनमें सत्तर अरब ६७ करोड़ रुपये की पूँजी लगी थी। इससे हम देख सकते हैं कि जब ब्रिटेन की आबादी भारत की आबादी की १३ सैकड़ा या सातवें हिस्से से भी कम थी तब वहाँ उद्योगों में भारत में लगी पूँजी की तेईस गुनी पूँजी लगी थी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि भारत में हर १०० आदमियों पीछे एक रुपया की पूँजी लगी थी तो ब्रिटेन में हर तेरह आदमियों के पीछे २३ रुपये की पूँजी लगी थी। अमेरिका की आबादी भारतीय जन-संख्या की ३५ सैकड़ा है। फिर भी वहाँ उद्योगों में भारत की अपेक्षा ७५ गुनी अधिक पूँजी लगी हुई है। यदि भारत की साम्प्रदायिक संस्थाएँ आपसी लड़ाई और गाली-गलौज छोड़ भारत की औद्योगिक शक्ति के विकास में लग जायँ तो क्या सभी के लिए इससे कहीं अधिक लाभदायक फल न होगा ?

उद्योग-धन्धों का ह्रास

ऐसे औद्योगिक विकास का तो ३५ करोड़ भूमि-विहीन जन सहर्ष स्वागत करेंगे। प्रकृति ने तो उनके लिए सामग्री एकत्र कर रखी है। भारत में प्राकृतिक सम्पत्ति की कमी नहीं है। कहा जाता है कि भारत की खानों में साठ अरब टन से कम कोयला नहीं है और हम प्रतिवर्ष २$\frac{१}{२}$ करोड़ टन कोयला ही निकाल पाते हैं। इस हिसाब से तो अगले दो हज़ार वर्षों तक कोयले

की कमी न होगी। जो क्षेत्र अब तक ज्ञात हैं उनके अलावा उत्तर और मध्य-भारत में भूगर्भ में काफ़ी लोहा भरा हुआ है। विश्वास किया जाता है कि उनसे तीन अरब टन लोहा निकल सकता है। इतने पर भी हमें हर साल दस लाख टन फौलाद विदेशों से मँगाना पड़ता है। १९३६ ई० में हमने तीन करोड़ सत्तर लाख की मशीनें मँगाईं। सोवियट रूस को छोड़ संसार में सबसे ज्यादा मैंगनीज़ भारत में निकलता है पर उसे हम अमेरिका और दूसरे देशों को कौड़ियों के मोल बेच देते हैं। भारत में दो करोड़ सत्तर लाख अश्व-शक्ति के बराबर जल-शक्ति है पर इस शक्ति का केवल तीन सैकड़ा ही जल से विद्युत् निकालने के काम में लाया गया है, जब कि जापान ने अपनी समस्त जलीय शक्ति का ३७, जर्मनी ने ५५, स्वीज़रलैंड ने ७२ सैकड़ा का उपयोग किया है। हम दूसरों पर कीचड़ उछालने में सन्तोष का अनुभव करते हुए इस भयंकर विनाश को जारी रखे हुए हैं; ऐसी स्थिति में भी हम अपने को गरीबी, भुखमरी और रूढ़िवादिता का शिकार बनाये हुए हैं। दरअसल हम लोग पारस्परिक विद्वेषों का निर्माण करने में इतने संलग्न हैं कि हमें अपने बीच बढ़ती हुई गरीबी के दुश्मन को जीतने के लिए आपस में एकता करने का वक्त ही नहीं मिलता।

सामान्य संकट

क्या हिन्दू-महासभा, मुस्लिमलीग, ऐंग्लोइंडियन असोसियेशन और काउंसिल ऑव् इंडियन क्रिश्चियंस तथा दूसरी सब साम्प्रदायिक संस्थाएँ आन्तरिक झगड़ों के विनाशकारी प्रभाव से अनभिज्ञ हैं? उनके साम्प्रदायिक विरोधों से राष्ट्रीय जीवन में जो विशृंखलता उत्पन्न होती है उससे किसी का लाभ नहीं होता। भारत के ऊपर लदा टैक्सों का कल्पनातीत बोझ, उसकी अशिक्षा, जन-स्वास्थ्य की चिन्ताजनक अवस्था, कृषि की अवनति, औद्योगिक हीनता, क्रूर शोषण, बीभत्स सीमाओं तक गिरी प्रति व्यक्ति की आय की औसत ने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख, हरिजन और अन्य सभी को एक समान खून चूसने वाली गरीबी, अनन्त अन्धकार और निराशा में

चाँध रखा है। कोई जाति या सम्प्रदाय ऐसी परिस्थिति के भयंकर परिणाम से बच नहीं सकता। यदि हम साम्प्रदायिकता की ठीक-ठीक कीमत आँक सकते, यदि हम समझ पाते कि इसके कारण हम निरन्तर अरबों रुपये खोते जा रहे हैं तो शायद हम में से अधिक लोग साम्प्रदायिकता के विरोध में खड़े होते। आज जब भारत गरीबिस्तान हो गया है तो सहज बुद्धि का यही तकाजा है कि पहले हम एक होकर उसे सम्पन्न बनायें और फिर बाद में अपने अधिकारों की माँग करें। पर हो कुछ और ही रहा है। हम अपने कार्यों से सिर्फ़ ब्रिटेन को उत्साहित करके उन छलनापूर्ण उदाहरणों की वृद्धि करते हैं जिनके द्वारा वह संसार के सम्मुख परस्पर मतभेद रखनेवाले भूखे, नंगे और अशक्त व्यक्तियों के बीच न्याय और शान्ति की स्थापना के लिए ब्रिटिश धाय और खानसामा की उपस्थिति की आवश्यकता सिद्ध करता है। और इस कानून और शान्ति को क़ायम रखने में भारत की आय का ६० सैकड़ा खर्च कर देता है। इसे देखकर मार्क एंटनी के शब्द याद आते हैं—

" O Wisdom ! thou art fled to brutish beasts
And men have lost their reason !"

("हा बुद्धि ! तू भाग कर भयंकर पशुओं के पास चली गई है, और मनुष्य विवेक-शून्य हो गये हैं।")

तर्क किया जा सकता है कि इस भयानक व्यय का बहुत सा हिस्सा, भारत के रक्षण में जाता है। और चूँकि आन्तरिक झगड़ों से अशक्त हो जाने के कारण भारत अपनी रक्षा करने में असमर्थ है इसलिए अंग्रेजों कि उपस्थिति यहाँ आवश्यक है। पर क्या ब्रिटेन ने भारत को अशिक्षा, अकाल, बाढ़, महामारी और राष्ट्रीय पतन से बचाया है? अच्छा इसे छोड़िए, आइए हम साम्राज्यवादी तर्कों की भी मीमांसा कर लें।

मान लीजिए, यही तर्क नात्सी सरकार हालैंड, बेलजियम, नार्वे, डेनमार्क आदि उन देशों के लिए, जो भारत से बहुत छोटे हैं, करती है। ज़ाहिर है कि इन देशों में आन्तरिक विद्वेष भी काफ़ी थे, और वे किसी

विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकते थे। साम्राज्यवादी प्रचार की भाँति नात्सी प्रचार ने तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पाँचवे दस्ते या विभीषण सम्प्रदायवादियों एवं रजवाड़ों की तरह नात्सी पाँचवे दस्ते ने काफ़ी फूट पैदा कर दी थी। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उपर्युक्त तर्क से यह सिद्ध नहीं होता कि नात्सी सरकार ने भी इन देशों पर क़ब्ज़ा करके उन देशों की वैसी ही भलाई की जैसी भलाई भारत में करने का दम ब्रिटिश सरकार भरती है। नात्सी सरकार भी तो इन देशों की रक्षा ज़्यादा अच्छी तरह कर सकती थी और उनमें आन्तरिक सामञ्जस्य भी पैदा कर सकती थी। आश्चर्य है कि भारत से ब्रिटेन के सम्बन्ध में ऐसे तर्कों का वेहूदापन ब्रिटिश सरकार और उसके पिट्ठुओं को नहीं दिखाई देता।

फिर भारतीयों में परस्पर जितना मतभेद है उससे कहीं अधिक मतभेद भारतीय जनता एवं ब्रिटिश सरकार के बीच है। इसलिए भूतपूर्व वायसराय के तर्क के अनुसार भी वर्तमान अधिकारियों पर सरकार के संचालन की ज़िम्मेदारी नहीं डाली जा सकती। और उसी तर्क के अनुसार देखें तो, चूँकि भारतीयों और ब्रिटिश सरकार के बीच गहरा मतभेद है इसलिए अमेरिका, या हो सके तो रूस, को इस मामले में दखल देना और उनके प्रतिनिधियों को भारत का सरकारी शासन अपने हाथ में ले लेना चाहिए! क्यों, कैसा तर्क है?

भारत अपने ऊपर शासन करने की स्थिति में नहीं है। पर वह शोषण किये जाने के सर्वथा उपयुक्त है। जब तक वह इस प्रकार अपना शोषण होने देगा तब तक क्या वह अपना शासन स्वयं चलाने की स्थिति पैदा कर सकता है? भारत की स्वाधीनता और एकता की माँग तो उसे धीमी मौत से बचाने की माँग है। इसे केवल कुछ ढीठ आन्दोलनकारियों की कोरी खामखयाली कहके नहीं टाला जा सकता।

अधिकार-मादकता में ब्रिटिश सरकार को यह न सोचना चाहिए कि

अपने अत्याचारों और दमन से भारतीयों को अपनी इच्छा के अनुसार ठीक कर लेंगे। अब वे दिन गये जब खलील मियाँ फ़ाख्ते उड़ाया करते थे। ऐसे-ऐसे प्रस्ताव जो वायसराय द्वारा १६३६ में इण्डियन नेशनल काँग्रेस के सम्मुख रखे गये थे, उस काँग्रेस के जो केवल अपनी विस्तार, अन्तर्जातीयता, बलिदानों से प्राप्त नैतिकता से ही भारत की सबसे बड़ी संस्था और जनता की असली प्रतिनिधि है, जले पर नमक छिड़कते हैं, हमारी साधारण माँगों को भी ठुकरा देते हैं और हमारे अंग्रेज सरकार के बीच खाई पैदा करते हैं। ऐसी ही चालों से बहुत से नरमदली काँग्रेस की ओर आ चुके हैं। ऐसी ही नीतियों पर अनुसरण करते रहने के फलस्वरूप, भारत ने उपनिवेश-पद को एकदम अस्वीकार किया। ऐसी नीतियों का यही फल होगा कि आगे चलकर भारत में ब्रिटेन के प्रति जो कुछ भी सहानुभूति है वह लुप्त हो जायगी।

अब वे दिन न रहे !

साम्राज्यवाद की इन नैतिक विषमताओं ने ही ब्रिटेन को इस विषम परिस्थिति में डाल दिया है। उसने भारत को गुलाम रखने में अपनी उदारता की घोषणा बड़े बुलन्द स्वर में की। और दूसरी तरफ़ यूरोप में स्वाधीनता की मूर्त्ति स्थापित करने में पथ-प्रदर्शन करने की धृष्टता की। अन्तर्विरोधों ने ही उसे यूरोप में स्वाधीनता की रक्षा करने में असमर्थ कर दिया था और अब वह उसे जल्द ही उस दशा में पहुँचा देगा कि उसका भारत पर भी क़ब्ज़ा न रह पायेगा।

शायद परमात्मा की प्रिय यहूदी जाति के इतिहास से यही पता चलता है कि कोई भी जनता जो दूसरी जनता से अन्यायपूर्ण व्यवहार करती है, जिसमें अपने और अपने सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवहारों के अन्दर नैतिक विषमताएँ पाई जाती हैं सदैव ही आक्रमणकारियों के सम्मुख अशक्त और असहाय रह जाती है। यदि भगवान् ने यहूदियों को इस फ़रेब के फ़न्दे और नैतिक विषमताओं से निकालने के लिए 'नेबुचाड नेज़र' का प्रयोग किया

तो क्या उसी तरह दूसरी जाति को पाखंड के फन्दों से निकालने के लिए किसी और शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता ? क्या शाश्वत न्याय की पुकार ब्रिटेन नहीं सुनेगा ?

खैर ! केवल ब्रिटेन की ही तरफ़ देखना काफ़ी नहीं है हम लोगों को भी काफ़ी कड़ी ईमानदारी से सोचना चाहिए कि हम सब अलग-अलग और सामूहिक रूप से राष्ट्रीय गुम्फन के इस तरीक़े को किस प्रकार विकसित कर सकते हैं, जहाँ से अपने प्राकृतिक पदार्थों और मानवी शक्ति से परिपूर्ण भारत एक दफ़े फिर से पनपे और धरती के उन समृद्ध, सुखी और प्रगतिशील राष्ट्रों में से एक हो जाय, जैसा वह पहले था। अपनी फूटों की असली क़ीमत जानने के सिवा और कोई भी वस्तु या शक्ति ऐसी नहीं है जिससे व्यक्तियों, संस्थाओं और राजनैतिक दलों में अखिल-भारतवर्षीय राष्ट्रीयता की भावना का संचार हो सके। यदि द्विराष्ट्र नीति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो क्या खंडित भारत समृद्ध हो सकेगा ? क्या वह विभाजित भारत अमन से सुखी रह कर अपने अन्दर उन हज़ारों शूरताओं और बलिदानों का प्रदर्शन कर सकेगा जैसा कि रूस के राष्ट्रीय जीवन ने अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किया है ? एकता ही शक्ति है, एकता ही महत्ता है, एकता ही राष्ट्र की रक्तधारा है। यह प्रत्येक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, हरिजन,—प्रत्येक हिन्दुस्तानी का पुनीत कार्य है। प्राकृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक रूप से तथा समान मुसीबतों के झेलने के फलस्वरूप जो एक इकाई बनी है, उस भारतवर्ष को एक गुम्फित राष्ट्र के रूप में उन्नत कर उस स्तर पर पहुँचा दें जिसके अन्दर धार्मिक रीत-रिवाज, तथा भाषाओं की विभिन्नता होते हुए भी पूर्ण एकता हो—वह एकता जो विघटन और आन्तरिक विच्छेद की धारा से राष्ट्र को बचा ले।

[५]

नापाकिस्तान

भारतीय सवाल हल करने का अभिनय करने में युद्धकालिक ब्रिटिश-मंत्रि-मण्डल ने अपनी युद्ध-जर्जर शक्तियों से कहीं बड़ा काम सिर पर उठाया। कोई ऐसी योजना सोच लेना, जो एक ओर एमरी, चर्चिल इत्यादि को मान्य हो और दूसरी ओर काँग्रेस, मुस्लिमलीग, हिन्दू-महासभा, सिखों, नरेन्द्र-मंडल द्वारा स्वीकृत हो जाय और उससे कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका को भी नाराज़ी न हो, एक भगीरथ प्रयास था। ऐसी परिस्थिति में जो हुआ उससे ज्यादा और क्या हो सकता था। अगर स्वयं हमारी स्वतंत्रता खतरे में न होती तो शायद हम उसे चाणक्य-नीति के नमूने के रूप में देखते। फिर भी उन्होंने जो करतब दिखाया उसकी तारीफ़ करनी चाहिए। ऊपर से एक युग-प्रवर्तक छलाँग मारते हुए भी वे जहाँ के तहाँ स्थिर थे!

वह अभिनय!

एक धृष्ट पत्र-प्रतिनिधि के यह पूछने पर कि क्या 'क्रिप्स योजना' में पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर ली गई है, सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने तुरंत उत्तर दिया था—"हर्गिज़ नहीं!" उन्होंने ठीक ही कहा। वह तो पाकिस्तान भी न था; वह था नापाकिस्तान। कम से कम पाकिस्तान में मुसलमानी अधिकारों में काल्पनिक हस्तक्षेप के भय से पैदा एक सच्चे और ईमानदार प्रस्ताव पर आश्रित होने का गुण तो था—फिर चाहे वह कितना ही दुर्भाग्यपूर्ण हो। पर ब्रिटेन का नापाकिस्तानी प्रस्ताव तो भारत को टुकड़ों

में बाँटकर, प्रत्येक टुकड़े को सारे देश में बीमारी और गन्दगी फैलाने की छूट देने की एक कूटनीति-पूर्ण चाल मात्र थी। वे प्रान्त, जो अज्ञान, भय, या विद्वेष के कारण, भारतीय विधान में न सम्मिलित होते,—"अछूत" हो जाते। ऐसी विनाशकारी योजना का प्रान्तों और समूचे राष्ट्र पर बड़ा ध्वंसात्मक प्रभाव होता। यह बिना किसी पुरानी समस्या को सुलझाये हुए अनेक नई समस्याएँ खड़ी कर देती। राजनैतिक रूप से वह एक छिपा हुआ अभिशाप होती।

विभाजन कल्पना-तीत है !

आर्थिक दृष्टि से देखें तो बालकन प्रदेशों की भाँति भारत के विभाजन की योजना का प्रभाव तो हमारे लिए वैसा ही विनाशकारी और दुःखमय होगा, जैसा किसी मनुष्य के हाथ-पाँव काट देने पर होता है। सब प्रान्तों की पारस्परिक निभरता के कारण विभाजन की कोई योजना—केवल असंगत ही नहीं, वरं कल्पनातीत है। उदाहरणार्थ मुख्यतः संयुक्तप्रान्त और बिहार में पैदा होने वाली चीनी बम्बई की चाय और मद्रास की काफ़ी को मधुर बनाती और समस्त भारत के कोटि-कोटि बच्चों के हृदय को प्रफुल्लित करती है। बोरे—जिनके बिना बनियों और घर की मालकिनों का जीवन बड़ा कष्टकर होता, उस जूट से बनते हैं जो बङ्गाल में पैदा होता है। प्रत्येक प्रान्त के सुदूर ग्रामों में भी वस्त्रों की आवश्यकता पूरी करनेवाली रूई बम्बई में होती है। बिहार और बंगाल तो धीरे-धीरे भारी लोहे के कारखानों के केन्द्र होते जा रहे हैं, जहाँ से उत्तरी, दक्षिणी भारत और समस्त मध्य-प्रदेशों में लोहे की आमद होगी। हिन्दुस्तान की ४० करोड़ जनता को लकड़ी हिमालय की घाटियों से, आसाम, और पश्चिमीघाट से मिलेगा। उत्तरी भारत के गर्म कपड़ों से पूरा देश अपने को गर्म रखता है। हमको वह नमक पश्चिमी भाग से ही मिलता है, जिसके बिना, मनुष्य क्या पशु भी जीवित न रह सकेंगे। चाहे खनिज-पदार्थ की दृष्टि से देखें या ग़ल्ले की; कच्चे माल की या तैयार माल की।

भारत एक अन्तसम्बन्ध-गठित आन्तरिक रूप से परस्पराश्रित अंगों की एक पूर्ण इकाई है।

क्या क्रिप्सों, क्रिग्सों, कूपलैंडों, जिन्नाओं तथा उनके अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी भाइयों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि भारत का विभाजन कर वे लोग भारत के आर्थिक विकास को जकड़ रहे हैं, और साथ ही उसकी आर्थिक एकता को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं? आर्थिक और औद्योगिक विकास की तो यही माँग है कि भारत एक अविभाजित इकाई रहे, जिसमें प्रत्येक भाग अपने माल को अन्य भागों से आवश्यकतानुसार विनिमय करने में स्वतंत्र रहे। एक अविभाजित भारत ही अमेरिका या ब्रिटेन की भाँति आत्म-संतुष्ट रह सकता है। यदि भारत एक इकाई रहे तभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उसे लाभ हो सकता है, क्योंकि व्यापार में अविभाजित भारत की शक्ति, विभाजित भारत से कहीं अधिक होगी। यह बात, और इसके कारण तो इतने साफ़ थे कि वाइसराय महोदय तक इसे समझते थे। सन् १९४२ के दिसम्बर में कलकत्ते में उन्होंने कहा—"साधारणतः भौगोलिक दृष्टि से हिन्दुस्तान एक है। अखण्ड भारत की समस्या तो आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी पहले कभी थी,....नहीं....उससे भी कहीं अधिक। मैं तो यह कहूँगा कि हम लोगों को उस इकाई को स्थापित रखने का प्रयास करना चाहिए। वह एक ऐसा वांछनीय आदर्श होगा जिसे वैदेशिक नीति, रक्षा नीति, औद्योगिक विकास नीति, वाणिज्य-व्यवसाय या व्यापार नीति से परखने पर कोई भी सज्जन सन्देह न कर सकेंगे। क्या (विभाजित) भारत उस समय उसी शक्ति से बोल सकेगा जिस शक्ति से वह आज बोलता है? क्या भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में, या साम्राज्य के दूसरे हिस्सों के वाद-विवाद में, टुकड़ों में बँटकर, और दो जिह्वाओं से बोलकर प्रभावपूर्ण ढङ्ग से अपना पार्ट अदा कर सकेगा?"

विभाजन से आर्थिक विनाश

जहाँ तक हम लोगों को पता है पाकिस्तान क्षेत्र में बहुत कम सोना है।

अतएव उसकी आर्थिक स्थिति अवश्य ही डाँवाडोल रहेगी। जो राज्य अपने यहाँ स्वर्णमान नहीं रख सकता, उसके यहाँ आर्थिक संकट निश्चित है। भारत निश्चित रूप से स्वर्णमान स्थापित कर सकता है। जबसे ब्रिटेन ने स्वर्णमान तोड़ दिया तब से मार्च १९३७ के प्रथम सप्ताह तक भारत से २,९९३,०७४, ३४५ रुपयों का सोना बाहर गया। जब भारत को इतने सोने का निर्यात न करना पड़ेगा, अवश्य ही विनिमय-दर उसके पक्ष में होगी। परन्तु यदि यह विभाजित हुआ तो आन्तरिक और वैदेशिक प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिए उसे गहरा आयात—कर लगाना पड़ेगा। इन रुकावटों के अर्थ होंगे—एक तरफ़ तो आर्थिक अभाव और दूसरी ओर असन्तोष और घृणा। कालोपरान्त यही घृणा और विद्वेष युद्धों में फलीभूत होगा। यदि संघर्ष न भी हुआ तो कमी या क़हत के ज़माने में संकट-ग्रस्त भाग में उस भाग से माल तथा अन्नादि आने में कठिनाई होगी, जहाँ उसकी प्रचुरता है।

बङ्गाल का अकाल क्या बताता है?

एक ज्वलन्त उदाहरण हम लोगों की आँखों के सामने है। बङ्गाल का अकाल केवल हिन्दुओं तक सीमित था या मुसलमानों तक? क्या सभी ने भूख की ज्वाला नहीं सही? क्या सभी एक साथ जीवित ही सियार के शिकार नहीं बने? क्या सभी ने बेबस नेत्रों से अपने सामने अपने बच्चों को असहाय, बिना किसी आशा के मृत्यु के फन्दे में जाते नहीं देखा? अकाल या सूखा, या किसी भी प्रकार की कमी जनता को साम्प्रदायिक आधार पर नहीं सताती? हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी समानरूप से हज़ारों की तादाद में मरे, सिर्फ़ इसलिए कि वहाँ अन्न की आमद अपर्याप्त थी। बङ्गाल के हृदय-विदारक इतिहास के प्रत्यक्षवाद से सभी पृथक्करण-वादियों को सबक़ लेना चाहिए। भारत का कोई प्रान्त आत्म-निर्भर नहीं है। अपने मातृदेश से काटकर किसी भी प्रान्त को अलग न कर देना चाहिए। सांस्कृतिक, भाषा सम्बन्धी, धार्मिक या राजनैतिक भेद तो गौण हैं। सबसे

बड़ी ज़रूरत तो आर्थिक ऐक्य की है। उसके बिना कोई भी पृथक भाग सुरक्षित नहीं है। बिना उसके आये कोई भी अंग सुदृढ़ नहीं हो सकता। बिना अन्न-संकटों और आर्थिक झमेलों को दूर किये केवल सांस्कृतिक एवं धार्मिक मतभेदों की ही गठरी बाँधने से क्या फ़ायदा?

आज जैसी परिस्थितियाँ हैं उनमें आवश्यक कच्चे माल, खाद्य-पदार्थ, अतिरिक्त तैयार माल के विनिमय की आवश्यकता, लाभादायक और सुदृढ़ मुद्रा नीति, वाणिज्य व्यवसाय को समृद्ध रखने के लिए कुशल यातायात-सम्बन्ध, सुरक्षा की लाइनें, आधुनिक रक्षा की जटिल तैयारी, उनके लंबे खर्चे, और सबसे बढ़कर अधिकाधिक सहयोग की आन्तर्राष्ट्रीय माँगों ने आज भारत का संयुक्तराष्ट्र के रूप में निर्माण करने को दस गुना आवश्यक कर दिया है। कदाचित् भारत की इसी संयुक्त-महत्ता और आत्म-परिपूर्णता की चेतना को और उच्च स्तर पर ले जाने के लिए ही अकबर ने मुहर्रम के उत्सव में ताज़िया का समावेश कराया, ताकि हिन्दुस्तान में ही मुसलमानों को मक्का और मदीना प्राप्त हों। सिवाय भारत के और कोई अन्य देश मुहर्रम में ताज़िये का प्रयोग नहीं करता। इसीलिए और देशों के मुसलमान हिन्दुस्तान के मुसलमानों को बुतपरस्त कहते हैं। परन्तु अकबर के समय से, उस शाहंशाह की इच्छानुसार भारतीय मुसलमान बिना बाहर गये हुए भारत-भूमि पर ही इस्लाम के इतिहास के उन दृश्यों का आनन्द लेता है जिसका प्रतीक 'ताज़िया' है। कदाचित् भारत की इसी अत्यावश्यक आर्थिक एवं सांस्कृतिक एकता की चेतना को उच्चतम स्तर पर पहुँचाने के लिए ही हिन्दू स्नान के समय यह श्लोक दोहराते हैं—

गंगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वती,
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरु।

और तब भी इस विभाजन के प्रस्ताव पर गंभीरतापूर्वक सोचने के लए, सर स्टैफ़र्ड कहते ही रहे। और आज भी लीगी-नेता जब-तब यही कहा करते हैं। हमीं लोगों को चले हैं गंभीरता

सिखाने—उल्टा बांस बरेली को। भारतीय तो स्वभावतः गंभीर होता है। परिस्थितियों ने हमें दुगना गंभीर कर दिया है। हमारे पेशेवर मसखरे भी इतने गंभीर होते हैं कि विद्रूप में हास्य का गम्भीर सन्देश हम तक पहुँचा देते हैं। हमारे पेशेवर राजनीतिज्ञ तो ऐसे गम्भीर हैं कि वे प्राचीनतम परम्परा को भी अभी तक उसी प्रशंसनीय रूप से कस कर मज़बूती से पकड़े हुए हैं। परन्तु इतना होने पर भी हमारी गम्भीरता श्री क्रिप्स के प्रस्तावों का आमुख पढ़ते समय दबी हँसी में परिणत हो जाती है और हमारी वह हँसी, विद्रूप की खिलखिलाहट में नहीं परिणत होती तो उसका कारण सिर्फ़ मज़दूर दल के उस भद्र नेता के प्रति हमारा आदर भाव है। काफ़ी गम्भीरता होते हुए भी आखिर यह कहना ही पड़ता है कि इतने बड़े पहाड़ को इतनी मेहनत से खोदने पर आखिर मिली भी क्या...?... बिचारी एक चुहिया! जब से इस बार ब्रिटिश मिशन भारत आया है सर स्टैफ़र्ड पुनः सब दल के नेताओं से मिलने और समझौता कराने में सरगर्मी दिखा रहे हैं, पर जब तक वे भारत की एकता के अनिवार्य तत्त्व को भूले रहेंगे तब तक भारत के भाग्य का सन्तोषजनक और न्यायपूर्ण निबटारा नहीं हो सकता।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जो भारतीयों की पारस्परिक फूट की चर्चा करते हैं, कनाडा के उन गहरे झगड़ों को भूल जाते हैं जो कैथालिक (फ्रान्सीसी) और प्रोटेस्टेंट (ब्रिटिश) लोगों के बीच दीर्घकाल तक चलते रहे और जो हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों से कहीं अधिक भयानक थे? पर इन झगड़ों के कारण कनाडा तो दो राज्यों में नहीं विभाजित किया गया। वहाँ विघटनकारियों को प्रोत्साहित करने का प्रयास नहीं किया गया। फ्रेंच और अंग्रेज़ कनाडियनों के बीच परम्परागत धार्मिक और सांस्कृतिक झगड़ों के बारे में तो दुनिया में इतना प्रचार नहीं किया गया। ऐसा तो कोई वाक़या नहीं मिलता जब

झगड़े कहाँ नहीं थे?

क्रिप्स जैसा कोई प्रस्ताव वहाँ भेजा गया हो या इन झगड़ों के कारण राष्ट्र की समस्या हल करने में लम्बी-चौड़ी कठिनाई बताई गई हो। जिस तरह से किसी प्रस्ताव की स्वीकृति या अस्वीकृति का सारा अधिकार भारत में मुस्लिमलीग को दे दिया गया है—फ्रेंच कनाडियनों को तो नहीं दिया गया था। उलटे फ्रेंच और अंग्रेज़ कनाडियनों के पारस्परिक विद्वेषों और शत्रुता को दूर कराने में ब्रिटेन ने काफ़ी दिलचस्पी ली थी। हिन्दू और मुसलमानों का एक होना, कैथलिक और प्रोटेस्टेंटों के एक होने से कहीं अधिक सरल है। फ्रेंच और अंग्रेज़ों के बीच हिन्दू-मुसलमानों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक मतभेद हैं। मगर ऐसे गहरे और महान् मतभेदों को खत्म करके पिछले महायुद्ध की समाप्ति पर कनाडा को उपनिवेशों का-सा स्वाधीन विधान बनाने की स्वतंत्रता दे दी गई थी। ज़ाहिर है कि आज उस नये विधान के अन्तर्गत फ्रेंच और कनाडियनों के पारस्परिक व्यवहार अंग्रेज़ों के समय से कहीं अधिक अच्छे हैं।

रूस से शिक्षा

वह भी बड़े मज़े की बात है कि कामरेड क्रिप्स, जो स्वयं एक बड़े जोशीले और जागरूक समाजवादी हैं, मास्को के दूतावास के बाहर निकलते ही उन नीतियों को बिसरा दें, जिनके आधार पर सोवियत रूस ने अपने इतने जटिल और बाह्य रूप से असंभव दिखनेवाले आन्तरिक भेदों को दूर किया। सोवियत रूस की उन समस्याओं के आगे भारत का साम्प्रदायिक मसला कुछ भी नहीं है। सोवियत-संघ केवल एकाध दर्जन धार्मिक सम्प्रदायों का देश नहीं है, वरं उसके अन्दर १८० राष्ट्र तथा जातियाँ हैं और १५१ भाषाएँ बोली जाती हैं। क्या कामरेड क्रिप्स ने रूस से कुछ भी ऐसा नहीं सीखा जो भारत में व्यवहृत हो सके ? ज़ारशाही रूस में अज़रबैज़ान, तुर्की और ट्रांसकाकेशिया के आरमीनियन लोग लफ़्ज़ी मानी में एक दूसरे के खून के प्यासे रहते थे। मध्य-एशिया में उज़बक लोग सदैव

तुर्कमन लोगों से लड़ते रहते थे। कभी-कभी आरमीनियन ईसाई और अज़रवैज़ान के मुसलमानों में भयंकर झगड़े हो जाया करते थे और उसी तरह कभी-कभी सुन्नी उज़बक और शिया तायज़िकों में भी वीभत्स लड़ाइयाँ हो जाया करती थीं। सफ़ेद रूसियों के ही हित में ज़ारशाही यह सब झगड़े पैदा करती थी। ज़ारशाही के तख्त उलट जाने के बाद विशृङ्खलता की ये धाराएँ चारों ओर दिखलाई पड़ने लगीं। इस्लामी नारों से रूसी मुसलमान आकर्षित हो रहे थे। जार्जियन, आरमीनियन, यूक्रेनियन, और सफ़ेद रूसी सभी अपना-अपना अलग-अलग राज्य स्थापित करना चाहते थे। परन्तु इन सब जटिल समस्याओं के रहते हुए भी सोवियत रूस के नेताओं ने उन सब मतभेदों को मर्दानगी से दूर किया। पर यदि वहाँ एमरी, जिन्ना, या सावरकर—जैसे लोग होते तो उन्हें पागलखाने ही भेजने की नौबत आती। सहानुभूति से पूर्ण समझदारी, दृढ़ संकल्प और अविचलित वफ़ादारी से वे क़दम-क़दम रुकावटों को दूर करते हुए, अपने में विश्वास जगाते हुए, श्रद्धा पैदा करते हुए आगे बढ़े। उन्होंने १८० राष्ट्रीयताओं को एक महान राष्ट्र में बाँध-सा दिया। इन विभिन्न समूहों की, जो किसी समय आपस के खूँखार लड़ाइयों में संलग्न थे, शक्ति और वफ़ादारी ने सोवियत रूस को स्वाधीनता का एक गढ़ बना दिया है, भयंकर से भयंकर परीक्षाओं के अन्दर भी सोवियत जनता का अपूर्व गौरवपूर्ण राष्ट्रभक्ति का इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। आखिर उसने अपने देश को नापाकिस्तानों के एक समूह से कैसे बचाया? आखिर उन्होंने कैसे अपना राष्ट्रीय गुम्फन प्राप्त किया?

कॉंग्रेस शक्ति का अधिष्ठान है।

अंग्रेज़ी नेतृत्व के दयनीय दिवालियेपन ने फिर अन्त में उठाया तो वह भी घूर पर से 'डोमिनियन स्टेट्स' के युगजर्जर सूत्र को और उसको कुछ सुन्दर और नवीन परिधान पहनाकर आकर्षक शब्दों में भेज दिया। १६१४-१८ के युरोपीय महायुद्ध के बाद भारत के नेताओं को शायद वह मान्य हो सकता था, क्योंकि उस समय वे अधिक विधानप्रिय थे। परंतु पिछले २०

सालों में कांग्रेस ने 'जवाहर बंडी', और 'गाँधी टोपी' के अतिरिक्त भी भारत को कुछ दिया है। उसने जनता में अपनी न्यायपूर्ण स्वाधीनता के प्रति विश्वास फूँक दिया है; उसने प्रत्येक जाति के अन्दर बड़े-बड़े समूहों को उत्साहित करके उन्हें दकियानूसी विचार-धारा से निकाल, क्रान्तिकारी भावना-सागर में ग़ोता लगाने की शक्ति भर दी है। और निकट भविष्य में कांग्रेस 'आज़ाद अचकन', 'सरोजिनी बालियाँ', या 'राजा काला चश्मा' से कुछ और अधिक देनेवाली है; वह दृढ़ निश्चय से अब सब अपमानजनक प्रस्तावों को नामंज़ूर करके हिन्दुस्तान को वह शक्ति देगी, जिससे हम लड़कर जीतेंगे,—जिससे हमको वह निर्बन्ध और पूर्ण स्वराज्य मिलेगा, जिसके अन्दर ही एक सुदृढ़ शक्ति-सम्पन्न, और प्रगतिशील राज्य का निर्माण संभव है।

हम लोगों में से वे लोग, जिन्होंने मिल्टन, क्रामवेल, वर्ड्सवर्थ, शेली मिल्स और रसेल की गौरवपूर्ण परम्परा को प्रशंसा की दृष्टि से देखा है,

दकियानूसी परम्परा का बंधन

इन ब्रिटिश नौकरशाहों के मस्तिष्क को आज से ५० साल पहले के किपलिंग के विचार-परिधान में सजा देख दुखी होते हैं। साम्राज्यवाद ने जिस समय किपलिंग के विचारों का स्वागत किया था उस समय से मानसिक क्षेत्र में भी बीसियों फ़ैशन बदल चुके हैं। इस युद्ध की प्रगति से यद्यपि ब्रिटिश जनता बहुत बदल गई, पर ब्रिटिश नेताओं पर कोई खास असर नहीं पड़ता, क्योंकि अब भी वे पुराने सपने देख रहे हैं। वे युद्ध की वास्तविक घटनाओं और उन घटनाओं के ज़ोरदार असर को सिर्फ़ फ़ुटबाल मैचों में प्रतिद्वन्द्वी-दलों द्वारा किये गये चन्द गोलों के बराबर समझते हैं। हो सकता है कि परीशानी और घबड़ाहट से बचने के लिए यह अच्छी तरकीब हो पर ऐसे कठोर प्रत्यक्षवाद की अवहेलना किसी भयंकर आशंका ही के साथ की जा सकती है। इस विश्व के अन्दर इतने द्रुत, अचानक, व्यापक और क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकते हैं, यह बात

शायद अंग्रेज़ दिमाग़ मानने में असमर्थ है। यदि इंगलैंड में थोड़े से भी ऐसे नेता होते जो भावी आशंका का अन्दाज़ा लगा सकते, जो वस्तुस्थिति का सचाई के साथ अनुभव कर सकते और जो घटना-क्रम को अविचलित ईमानदारी से सँभालने वाले होते तो वे अवश्य ही साम्राज्यशाही लिप्सा के इन सब घरेलू झगड़ों को और शोषण की महत्त्वाकांक्षाओं को भूल जाते। घटना-क्रम उस समय कुछ और ही होता। तब लम्बे विवादों और समझौते की निरर्थक चर्चाओं में समय न खोया जाता। इसके बजाय भारतीय राजदूत की हैसियत से इङ्गलैंड में सर तेजबहादुर सप्रू का स्वागत होता।

खैर, उस बार तो भारत ने अपने को क्रिप्स-योजना में निहित 'नापाकिस्तान' को अस्वीकार कर—धूर्त राजनीति के फंदे में फँसने से बचा लिया; इस बार दिल्ली और शिमला की लम्बी वार्ताएँ बाजीगर के तमाशे में परिणत होकर रह जाती हैं या सचमुच उनके बीच से एक संयुक्त, सुदृढ़ और संसार की राष्ट्र-मण्डली के बीच अपना सिर ऊँचा करके सम्मिलित होने वाले स्वतन्त्र भारत का जन्म होता है, इसे कहना अभी से कठिन है। प्रस्ताव तो अच्छी भावना से आये हैं पर देखें अन्तिम रूप क्या बनता है?



[६]

ब्रातिस्तान

जब हम पर नये शब्दों, नई संज्ञाओं का बौछार पड़ती है तो हमें बड़ी खीझ और झुँझलाहट होती है। फिर भी कभी-कभी कोई नया शब्द चेहरे पर ताज़गी लानेवाले ठंडे पानी के छींटे की तरह काम करता है। वह हमें झकझोर कर जगा देता है। इससे कुछ लोग अपनी संकुचित विचार-प्रणाली का त्याग कर सकते हैं। और नूतन प्रेरणाओं, सूचनाओं या प्रस्तावों का आनन्द लेने अथवा पुराने विचारों को ही नये साँचे में ग्रहण करने के लिए यह बहुत आवश्यक है। ऐसा ही एक शब्द है—असम्प्रदायी-करण। तब इस शब्द का क्या तात्पर्य है?

कल्पना कीजिए, एक शानदार अखिल-भारतीय असम्प्रदायीकरण सम्मेलन किया जाता है। अपने ढंग के इस पहले ही सम्मेलन के अध्यक्ष

असम्प्रदायीकरण सम्मेलन

(या कायदे आज़म या राष्ट्रपति अथवा जो कुछ भी उसे कह लीजिए) पद के लिए मैं किसी नास्तिक का नाम पेश करूँगा, क्योंकि इससे पूर्ण बौद्धिक ईमान-दारी का भरोसा हो जायगा। एकत्र समुदाय के अन्तर्साम्प्रदायिक पहलू पर ज़ोर देने के लिए इन्द्रधनुषी वर्णों की पताका आदि से सभा-मण्डप सजाया जायगा। प्रत्येक कोने पर एक विशाल तिरंगा झंडा रहेगा; इनमें से एक पर मुसलमानों का चाँद और तारा होगा और दूसरे पर हरिजनों के लिए ताज का चिह्न रहेगा, तीसरे में हिन्दुओं के लिए एक तुला (तराज़ू) होगी और चौथे में भारतीय ईसाइयों, पारसियों

और शेष सब के लिए दो मिले हुए हाथ होंगे। फिर अध्यक्ष की वेश-भूषा भी ऐसे ऐतिहासिक अवसर के उपयुक्त होगी; वे एक धोती, बंद गले की (टेनिस) कमीज़ और खुले गले का कोट पहनेंगे; गले में एक तिरंगी 'टाई' होगी, सिर पर लाल फेज़ या तुर्की टोपी, एक पाँव में पञ्जाबी जूता और दूसरे में चप्पल होगी। अध्यक्ष महोदय अपना प्रारम्भिक भाषण हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में देंगे!

उस सम्मेलन का मुख्य प्रस्ताव, जिसे काश्मीर की एक रूपवती युवती पेश करेंगी और मद्रास की एक व्यावहारिक महिला जिसका समर्थन करेंगी (ऐसा देखा गया है कि स्त्रियाँ झगड़ालू पुरुषों से कहीं अधिक दूरदर्शी और साम्प्रादायिक विद्वेष से रहित होती हैं), कुछ इस प्रकार का होगा—

प्रताव

"हम, जो कि भारत की प्रत्येक छोटी और बड़ी, ज्ञात और अज्ञात, महत्त्वाकांक्षी और अमहत्त्वाकांक्षी, चंचल और गम्भीर जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं, साम्प्रदायिक अखाड़ेबाज़ी से प्रकट होनेवाली कोरी बेहूदगी और जीवन की व्यर्थ बरबादी को देख चुके हैं। यह अस्वास्थ्यकर, अप्राकृतिक और अनावश्यक है। हम लोग अपने राजनीतिज्ञों जैसे भूले-भटके नहीं हैं। इसलिए हमलोग यह निश्चय करते हैं कि आज से प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय का विघटन किया जाय और हम लोग केवल हिन्दुस्तानियों की तरह रहें—एक जनता, एक परिवार, जिसके प्रत्येक सदस्य को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता तो होगी, पर जिनके बीच कोई विभाजनकारी सीमाएँ न होंगी।"

जब यही बात एक अच्छे खासे उदार हिन्दू से कही गई तो वह आश्चर्यचकित हो कह उठा—"हरे! हरे! ये नवयुवक तो देश को बरबाद कर डालेंगे। यदि मेरा एक भाई मुसलमान जाति की फौलादी हो जाय और एक भाई ईसाई तो मैं उसे अपने घर में दीवार कैसे रहने दूँगा?" जब यह पूछा गया कि आखिर

आपको उन्हें साथ रखने में क्यों आपत्ति है तो उत्तर में उन्होंने केवल यह कहा—"बात यह है कि मेरी जात चली जायगी।" उन्होंने इस तरह एक बहुत बड़ी सचाई पर प्रकाश डाला। यदि हममें जाति-व्यवस्था का कबीलापन न होता तो शायद प्रतिद्वन्द्वी जातियों के विकास की कोई आवश्यकता न होती। हिन्दू-धर्म की मृदुल एवं उदार आत्मा के विपरीत इस जाति—व्यवस्था की फ़ौलादी दीवार ने उन सभी हिन्दुओं के लिए दरवाज़े बन्द कर लिये जो ईसाई या इस्लाम धर्म को स्वीकार कर चुके थे; वे बहिष्कृत हो गये। अपने अतीत, परिवार, और भौतिक एवं सांस्कृतिक विरासत से उनका सब सम्बन्ध कट गया। क्रमशः ऐसे 'जातिनिकालों' की संख्या बढ़ती गई और भौतिक-विज्ञान के नियमों के अनुसार उन्हें अपने लिए ऐसी बहिष्कृत जाति का निर्माण करना पड़ा, जो अपने में आत्म-निर्भर हो क्योंकि वे हिन्दू जाति से कोई सम्बन्ध न रख सकते थे। लगभग वही बातें आज भी चालू हैं। समाज से बहिष्कृत और परम्परा से एकाकी इन जातियों को भाग्य के सहारे या अपने ही विकास के नियमों के भरोसे रहना पड़ा।

बहिष्कृतों की वृद्धि

इस प्रकार मुसलमान और ईसाई समाज उत्तरोत्तर बढ़ता गया और मुसलमानों और ईसाइयों की प्रत्येक भावी पीढ़ी उन सांस्कृतिक परम्पराओं से दूर होती गई, जिनके द्वारा वह हिन्दुओं के साथ बँधी रह सकती थी। समय के साथ पारस्परिक आर्थिक स्वार्थों में संघर्ष बढ़ता गया; इन बहिष्कृतों की संख्या बढ़ाने के लिए सैकड़ों नये धर्मान्तरित जन आते रहे; इन लोगों ने ज़मीन-ज़ायदाद खरीदी तथा व्यापार और खेती-बारी में लगे। मातृ-जाति (हिन्दू-समाज) और उससे निकलनेवाली इन नई जातियों के बीच सामाजिक सम्बन्ध बना रहे, इसकी जगह दोनों के बीच सामाजिक बहिष्कार का क्रम चला जिससे असन्तोष और घृणा बढ़ती गई और प्रतिशोध—बदला लेने—की भावना भी फैली। ऐसी दुःखद परिस्थितियों में संकुचित

साम्प्रदायिकता की भावना की वृद्धि स्वाभाविक थी। इन घटनाओं की यथार्थता ने राष्ट्रभक्ति को अप्रासंगिक बना दिया। इन जातियों तथा वाद की अन्य अल्पसंख्यक जातियों की राजनीतिक सहानुभूतियाँ हिन्दू-सत्ता के भय से डावाँडोल हो गईं। इनको बराबर भय बना रहा कि हिन्दू-सत्ता प्रधान रही तो उन्हें अनेक सूक्ष्म तरीक़ों पर पीड़ित कर सकती है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था अपने आप अपने विघटन की सामग्री जुटा रही थी।

ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेज़ों की उपस्थिति ने वैमनस्य की इस आग को और भड़काने का काम किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के 'बदनाम वधिकों' को जाति-व्यवस्था से कसे हिन्दू मुसलमानों की अपेक्षा कम लाभदायक मालूम पड़े; उनकी झुँझलाहट हिन्दुओं पर उतरी। अंग्रेज़ मस्तिष्क के लिए मुसलमानों की वस्तुवादी चेतना को समझ लेना हिन्दुओं की धार्मिक चिन्ताशील चेतना को समझने की अपेक्षा कहीं सरल था। अंग्रेज़ को कभी विश्वास ही न होता था कि उसने हिन्दू को ठीक-ठीक समझ लिया है। किन्तु उसने मुसलमान को अच्छी तरह समझ लिया था। सर विलियम जोंस और सर एडविन आरनाल्ड जैसी प्रकृति के लोग तो सैकड़ों वर्षों में गिनती के ही होते हैं। वेचारे वे अंग्रेज़ी-इतिहासज्ञ भी, जिन्हें इतिहास के निष्पक्ष मूल्यांकन में दक्ष समझा जाता है, मुस्लिम-युग की परीक्षा बड़ी कुशलता से करते हैं, पर हिन्दू-युग के बारे में उनकी लेखनी थम-सी जाती है। जिस समय ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि की कुछ कमी होती है कोरी तिथियों की अनिश्चित बातों और सहज प्रशंसा से वह कमी पूरी की जाती है। जहाँ कर सके अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं का उपयोग किया ज़रूर पर उसी सन्देह के साथ जिससे हम अज्ञात की कल्पना करते हैं। रहस्यवादी हिन्दू की अपेक्षा उन्हें प्रत्यक्षवादी मुसलमान में अधिक अपनापन मिला अतएव यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है कि मुसलमानों को आरम्भ से ही अंग्रेज़ शासकों से अधिक पक्षपात प्राप्त हुआ और बढ़ते हुए अंग्रेज़ी प्रभाव में अधिक सरलता से वे समा सके।

भारत में सबसे पहले आने वाले ईसाई, जो आज से सत्रह सौ साल पहले यहाँ आये थे, रंग-ढंग में भारतीय बन गये जैसा कि उनके वंशज, सीरियन ईसाई, आज भी हैं। लेकिन डेढ़ सौ साल पहले आनेवाले ईसाई पादरियों—मिशनरियों—तथा उनके द्वारा बनाये जाने वाले मिशन-संस्थाओं ने भारतीय ईसाइयों के जीवन में एक नवीन और अस्वास्थ्यकर तत्त्व उत्पन्न कर दिया। अब से वे इन विदेशी मिशनरियों के प्रभाव में रहने, सोचने और काम करने लगे, जिनके कारण उन्हें आर्थिक संरक्षण और सामाजिक सत्ता प्राप्त हुई। उनसे भारतीय ईसाइयों को अपनी हिन्दू-विरोधी भावनाओं के बदले संभ्रान्त धार्मिक चोंगे (अँगरखे) प्राप्त हुए। इसके साथ-साथ उन्होंने प्रत्येक विदेशी चीज़ की पूजा करना और प्रत्येक भारतीय वस्तु को जंगली मानकर घृणा करना भी सीखा।

ईसाइयों का अराष्ट्रीयकरण

विलियम कैरी-जैसे अग्रज मिशनरी नेता ने इस नीति का प्रतिपादन करते हुए लिखा—"ईसाई बनाने के लिए भारतीयों को 'पश्चिमी' बनाओ" (अर्थात् उन्हें पाश्चात्य जीवन-क्रम में ढालो)। सदैव विभिन्न सूक्ष्मरूपों में हमारे यहाँ इसी नीति का पोषण हुआ है। यदि हिन्दुस्तान के सभी पश्चिमी प्रणाली ग्रहण करनेवाले भारतीय ईसाई बपतिस्मों के शिकार नहीं हुए तो कम से कम हिन्दुस्तानी ईसाई तो पश्चिमी रंग में रँग ही गये। यह यूँ तो देखने में निर्दोष मालूम होता है। वास्तव में हम लोगों का कुछ बातों में पश्चिमी रूप ग्रहण करना वैसा ही लाभप्रद है, जितना कि कुछ बातों में पश्चिमी लोगों का हिन्दुस्तानी रूप ग्रहण कर लेना। यदि यह चुनाव सोच-विचार कर किया जाय तो मूल्यवान हो सकता है। परन्तु, जब भारतीय ईसाइयों पर वैदेशिक मिशनरियों-द्वारा ज़ोर डलवाया जाता है कि वे अपना गला घोंट कर मिशनरियों की उपस्थिति में यह घोषणा करें कि ब्रिटिश राज्य भारत में ईश्वर का वरदान है; कि अपनी प्रत्यक्ष असमानता और धार्मिक तानाशाही के साथ भी वे भगवान

के भेजे हुए दूत हैं, कि हिन्दुस्तानी संस्कृति शैतानी है; कि विदेशी नेकटाई से लेकर अमेरी की नवीनतम घोषणा तक सब कुछ सर्वथा निर्दोष है तो फिर यह घोर नैतिक पतन से किसी भी हालत में कम नहीं है। ज़ाहिर है कि ऐसे वक्तव्य दस में से नौ तो केवल मिशन की नौकरी प्राप्त करने या आर्थिक सुरक्षा वा लाभ के लिए या मिशनरियों की कृपा प्राप्त करने के लिए ही दिये जाते हैं।

इस बात के सबूत के लिए कि ईसाई मिशनों में ये सब आम बातें हैं, हमें उन भारतीय ईसाइयों को देखना चाहिए जो उन मिशनरियों द्वारा "खतरनाक" कहे जाते हैं और जिन्हें प्रत्येक पद से यत्नपूर्वक अलग रखा जाता है। चाहे वे लोग कितने ही दिग्गज विद्वान क्यों न हों, या विदेशों में कितने ही प्रभावशाली क्यों न सिद्ध हुए हों, मिशनरियों के 'जी हज़ूरों' में न होने के महान् पाप के कारण किसी भी चर्च की नौकरी के लिए 'अयोग्य' समझे जाते हैं। और बड़ी सख्त निगरानी के साथ चर्च के कामों से अलग रखे जाते हैं। जी हज़ूरी' मिशनरी, जो मिशन के नौकर होने के साथ ब्रिटिश सरकार की भी सच्ची वफ़ादारी करते हैं, अपने अधिकारियों द्वारा निर्णीत मार्ग की ग़लतियाँ और भूलें बताने में असमर्थ रहते हैं। इस तरह ग़लतियों पर ग़लतियाँ लदती चली गई हैं। फ़सल तैयार हो चुकी है। उसको काटनेवाले कौन होंगे? विदेशी मिशनरी या भारतीय ईसाई समाज?

दूसरे धर्म के विचारशील जनों ने चाहे वे नेता हों या जनता, मिशनरियों की गतिविधियों को लक्ष्य किया है। उनमें से कुछ ईसा के प्रति उदार-भाव रखनेवाले भी हैं। उनकी सहानुभूति भी ईसाई धर्म के साथ है पर वे लोग भी इन कार्य-कलापों से कभी खीझ, कभी निराश हो उठते हैं, और कभी-कभी तो अपनी सहानुभूति तक हटा लेते हैं। अन्य धर्मावलम्बी विचारशील भारतीय का साधारण भाव यह है कि—"एक हिन्दू या मुसलमान के ईसाई हो जाने से मातृभूमि के एक व्यक्ति की बलि होती है।" दुःख

तो इस बात का है कि वास्तविकता यही है। सन् १८८५ से हममें राष्ट्रीयता की चेतना की जो लहर उठी है, उसके बाद कोई भी राष्ट्रवादी भारतीय किसी ऐसे आन्दोलन के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद-द्वारा उत्तेजित एवं पोषित जाति-भेद की खाईं को बढ़ावे और इसके लिए अपने नूतन धर्मानुयायियों में से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सैकड़ों समर्थक प्राप्त कर ले।

ये ईसाई मिशनरी वा धर्म-प्रचारक अपने नवीन ईसाई बनाये गये अनुयायियों को ब्रिटिश सरकार की वफ़ादार प्रजा या पिट्ठू सिद्ध करना चाहते थे, अतः उनकी मध्यस्थता में भारतीय ईसाइयों ने ब्रिटिश शासकों का संरक्षण खोजा और पाया। १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में अंग्रेज़ों की मदद करने के परिणाम-स्वरूप भारतीय ईसाई समाज एवं मिशनरी उद्योग का मूल्य विदेशी शासकों की निगाह में बहुत ज्यादा बढ़ गया। इसके बाद बहुत ज़्यादा दिन नहीं बीतने पाये कि हिन्दू बहुमत के विरुद्ध 'संरक्षण' माँगने के लिए मुसलमानों और ईसाइयों को खुल्लमखुल्ला भड़काया गया और इस तरह अंग्रेज़ों के हाथ में एक ज़बर्दस्त तुरुप का पत्ता आ गया। तब से आज तक एक जाति के विरुद्ध दूसरी को उभाड़ते रहने की साम्राज्यवादी चालों को सहज ही समझा जा सकता है।

जाति की नींव खिसक रही है

इन चालों के बावजूद स्कूलों और अस्पतालों के प्रसार तथा रेलवे-यात्रा की आवश्यकताओं से विभिन्न जातियों के भारतीय स्त्री-पुरुषों को इन्सान की हैसियत से परस्पर सम्पर्क स्थापित करने को विवश होना पड़ा; उनको मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने का मौक़ा मिला। सरकारी आफ़िसों में साथ काम करने और नये शहरों में साथ-साथ रहने की मजबूरियों ने हिन्दुओं को जाति-प्रथा-सम्बन्धी अपने विश्वासों में संशोधन करने के लिए बाध्य किया। पहले ईसाइयों ने जाति-व्यवस्था पर नैतिक दृष्टि से आक्रमण किया; उसके बाद हिन्दू-समाज की संगठन-प्रणाली की तीव्र

आलोचना ब्रह्मसमाजियों ने की और शीघ्र आर्यसमाज अपने प्रबल व्यंग-प्रहार को लेकर इसके विरुद्ध मैदान में आ गया। अब कालेजों से हज़ारों ऐसे हिन्दू शिक्षित होकर निकल रहे थे, जो सामाजिक न्याय की पाश्चात्य विचार-धारा की तीव्र मदिरा का स्वाद ले चुके थे। एक मौन क्रान्ति आरम्भ हो चुकी थी, जो भारतीय चेतना को एक नयी राष्ट्रीयता की माँगों से प्रभावित कर रही थी। जाति-बंधन अपने आप—अनजाने ही—टूट रहे थे। राष्ट्रीय ऐक्य और अभिन्नता का क्रम चल गया था। इस ऐक्य-क्रम में ऊँची श्रेणियों के बीच अन्तर्साम्प्रदायिक विवाह-सम्बन्ध भी होने लगे।

१८६० के बाद के वर्षों में प्रगतिशील हिन्दू सुधारक जनता का ध्यान उन जाति-सम्बन्धी अगणित गुटबन्दियों की ओर दिला रहे थे, जो उस समय हिन्दू-समाज में प्रचलित थीं, जिनकी वजह से हिन्दुस्तान बदनाम था, और जिनसे भारतीयों में न केवल फूट ही बढ़ती थी, वरं जो राष्ट्रीय चेतना के विकास में रुकावटें भी पैदा कर रही थी। कट्टरपन्थियों के विरोध में वे लोग यह प्रचार कर रहे थे कि हिन्दू-समाज के अन्तर्गत इस अनर्थपूर्ण व्यवस्था से न केवल अन्तर्जातीय विद्वेषों को ही उत्तेजना मिलती है, बल्कि आपसी फूट भी बढ़ती है और हर प्रकार के प्रभाव-पूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक विकास में बाधा पड़ती है। किसी व्यवस्था से पोषित एवं लाभ उठानेवाले लोग उस व्यवस्था में सुधार करनेवालों को पथ-भ्रष्ट करने का प्रयास करते ही हैं। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि उन व्यवस्थाओं से पोषित जन कौन हैं? इससे अधिकांश लाभ उठाने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं हैं! अधिकतर, इससे लाभ उठानेवाले ज़मींदार, पूँजीपति, मिल-मालिक, महाजन और सूदखोर आदि हैं जिनमें से अधिकांश वैश्य या बनिये हैं। जिस प्रकार पश्चिम में ईसाई-धर्म की शिक्षाओं-द्वारा दरिद्रों को सुख और सन्तुष्ट करने की चेष्टा की गई उसी प्रकार भारत में भी कर्म या भाग्य के सिद्धान्त का आश्रय लेकर

जाति-व्यवस्था-द्वारा रैयत और मज़दूरों के शोषण का प्रयत्न किया गया। इसलिए सुधारकों का ध्यान हटाने के लिए विधवा-विवाह और शिक्षा-सुधार आदि को शीघ्र सामने लाया गया। और इन कार्यों में बड़ी सरलता से धन की सहायता प्राप्त हुई। धीरे-धीरे जाति-प्रथा की समस्या पीछे पड़ गई।

तत्पश्चात् कांग्रेस की प्रसिद्ध राष्ट्रीय उथल-पुथल सामने आई। इस समय तक 'जाति-बहिष्कृतों' ने एक कुशल और लड़ाकू नेता भी प्राप्त कर लिया था जिसने युगों के शोषण के कारण पैदा हुई उत्तेजना से जाति-व्यवस्था पर आघात किया। मन या बे मन से महात्माजी ने, जो उस समय अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर थे, हरिजन-सेवक-संघ का निर्माण कर, उन्हें एक नया मन्त्र दिया। इस संस्था को जाति-व्यवस्था से पोषित लोगों द्वारा काफ़ी अधिक चन्दा भी मिला। जिस समय धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक-व्यवस्था के रूप में जाति-प्रथा को समूल नष्ट किया जा सकता था, महात्माजी ने केवल हरिजन-सेवक-संघ खोलकर, एक अमूल्य अवसर खो दिया। यदि उस समय जाति-व्यवस्था को समूल नष्ट करने का प्रयास किया जाता तो साम्प्रदायिकता को फिर खड़े होने के लिए कोई सहारा न मिल पाता।

राष्ट्रीयता की लहर

असम्प्रदायीकरण के लिए जाति-व्यवस्था का नाश अत्यावश्यक है। यदि जाति रूपी विकराल दैत्य न हो तो सभी हिन्दुस्तानी साथ-साथ खायेंगे-पियेंगे, साथ-साथ रहेंगे, अन्तर्जातीय विवाह करेंगे, व्यापार में साझेदारी होगी और जायदाद पर भी संयुक्त अधिकार होगा, केवल धार्मिक क्रियाओं में वे स्वतन्त्र होंगे। हिन्दू-मुसलमान और ईसाई एक साथ एक ही परिवार में रह सकेंगे। पारस्परिक नाते न टूटेंगे। बहुत-सी ऐसी पूँजी, जो आज हिन्दू पूँजीपतियों के पास बेकार पड़ी है, अहिन्दू-जातियों में, विवाह-संबंधों द्वारा पहुँच सकेगी। जब पृथक-पृथक जातियों का दर्शन ही नष्ट हो जायगा, अलग-अलग जातियों की कोई आवश्यकता ही न रहेगी तो विभिन्न मतावलम्बियों को ऐसी परिस्थितियाँ और अवसर प्राप्त

होंगे जो आज उन्हें नहीं प्राप्त हैं, जिससे वे अपनी मातृभूमि की राष्ट्रीय परम्पराओं में अपने-अपने अस्तित्व निहित कर, समान राष्ट्रीयता और भक्ति के फल लगायेंगे। दो ही पीढ़ियों के अन्दर असम्प्रदायीकरण की क्रिया से आगे बढ़, हम सुदृढ़ राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो सकेंगे। राजनीतिक परिस्थितियाँ एक दूसरे ही स्तर पर पहुँच जायँगी। अपने राजनीतिक विचारों के अनुसार सभी धर्मों के लोग 'विभिन्न राजनीतिक दलों' में संगठित होंगे। 'बहुसंख्यक दल' (मैजारिटी पार्टी) के 'विरोधी-दल' में भी उतने ही हिन्दू हो सकेंगे, जितने आज खुद उसमें हैं। तत्पश्चात् 'जन-मत' से एक राष्ट्रीय सरकार बनेगी, जो अपने राजनीतिक विचार, नीति और कार्यक्रम को सम्मुख रख कर अधिक लोकमत आकर्षित कर सकेगी। यों असम्प्रदायीकरण का अर्थ होगा एक क्रान्तिकारी परिवर्तन।

इससे न तो 'बहुसंख्यकों' को, न 'अल्प-संख्यकों' को ही असन्तुष्ट होने की आवश्यकता है। इस प्रक्रिया से न तो कोई अल्प-संख्यक जाति बहु-संख्यकों के हाथों तकलीफ़ पा सकेगी और न कोई बहु-संख्यक जाति ही गुलामी में फँसेगी। असम्प्रदायीकरण की क्रिया समत्व का क्रम है। बहु-संख्यकों के हाथ से वे धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अस्त्र निकल जायँगे जिनसे उनके पुराने कारनामों के कारण आज अल्प-संख्यक घबड़ाते हैं। छोटे-छोटे संकुचित साम्प्रदायिक घेरों से निकल अल्प-संख्यकों को उन खुले क्षेत्रों में आने का मौका मिलेगा जिनका क्षितिज नूतन और विस्तृत होगा। इसके फल-स्वरूप एक नया विभाजन होगा। जनता में धार्मिक बिल्ले न लगेंगे। उनका परिचय, सदैव समाज के किसी विशिष्ट राजनीतिक-दल के सदस्य की हैसियत से होगा और इन दलों का जन्म, विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों और विश्वासों से होगा। फिर हम इस तरह न सोचेंगे कि "क" हिन्दू है, "ख" मुसलमान है "ग" ऐंग्लो इण्डियन है या "घ" पारसी है। तब तो हम उन्हें गर्म-दल-वाले, या नर्म दलवालों, पलायनवादी या क्रांतिकारी, साम्यवादी या प्रति-

गामी, प्रगतिशील या रूढ़िवादी आदि, अपने-अपने राजनीतिक विश्वासों के अनुरूप जानेंगे। नई श्रेणियों का विभाजन किसी के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों पर आधारित न होकर उनके राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण पर, या जीवन-कला या समाज के सिद्धान्तों के अनुसार होगा, जिनकी मदद के एक दल दूसरे दल से अलग पहचाना जा सकेगा। यह क्रम, निश्चित रूप से, अधिक विवेकयुक्त होगा।

युगों पुरानी साम्प्रदायिकता के ढाँचे में रहकर सोचने, अनुभव एवं कार्य करने की हमारी ऐसी आदत पड़ गई है कि उस ढाँचे के बाहर आने पर हम अपने को असमंजस में पाते हैं। जाति-व्यवस्था की समाप्ति और उसके फलस्वरूप असम्प्रदायीकरण के यह अर्थ कदापि नहीं कि व्यक्तियों की रुचियों के अनुसार अपने धर्म-पालन के अधिकार का संरक्षण राज-सत्ता-द्वारा न होगा या उसके विचार, कार्य एवं भाषण-स्वातंत्र्य के अधिकार की रक्षा सरकार न करेगी, या राष्ट्रीय आधारों पर होनेवाले चुनावों में व्यक्तियों के बिना रुकावट खड़े होने के अधिकार को, न सुरक्षित रखेगी। धर्म, वर्ण, या विश्वासों के अन्तर से, किसी भी व्यक्ति के राजनीतिक, या वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा में अन्तर नहीं आयेगा। तब किसी व्यक्ति को किसी भी साम्प्रदायिक संगठन के सहारे की आवश्यकता न होगी। अपनी योग्यता के बल पर वह समाज में स्थान पा सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हितों की तथा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा पाकर पूरे राष्ट्र के हित के हेतु राष्ट्रीय रूप से चिंतन, मनन और कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होगा। यह बात तो रैमज़े मैकडानल्ड को भी कहनी पड़ी, "यदि भारत एक स्वस्थ और शक्तिशाली राष्ट्रीय जीवन चाहता है तो उसे भारत के विस्तृत राष्ट्रीय हितों पर आधारित विभिन्न राजनीतिक दलों को जगह देनी होगी, इन स्वार्थों के लिए जो राष्ट्रीय हितों से कम विस्तृत और संकुचित हैं, कोई स्थान न होना चाहिये!" मैकडानल्ड ने ये शब्द कहे चाहे जिस नीयत से भी हों, परन्तु हैं ये हमारे याद रखने

योग्य। असम्प्रदायीकरण इसी सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत कर देता है। यदि यह छोटे संकुचित स्वार्थों की सेवा से ऊपर उठकर भारत की सेवा का प्रण करनेवाले राष्ट्रीय राजनीतिक-दलों के विकास में सहायक नहीं होता तो फिर उसका मूल्य ही क्या है ?

कूट चालों का शिकार भारत

साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवार्ड), पृथक निर्वाचन और ऐसी ही अन्य चाणक्य नीतियाँ राष्ट्र के प्रति भक्ति और वफ़ादारी को हटाकर उसे साम्प्रदायिक कट्टरता और विकृति में बदल देने के लिए हैं। ये इसलिए हैं कि धीरे-धीरे हमारी आँखें राष्ट्रीय हितों की ओर से हटाकर साम्प्रदायिक स्वार्थों के संकुचित दायरे में केन्द्रित की जायें। यह ऐसी प्रणाली है, जिसमें मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद मि० जिन्ना को वोट दे सकते हैं, पर चाहने पर भी जवाहरलाल को नहीं; इसी प्रकार मि० मुन्शी अनिच्छा होने पर भी डा० मुंजे को वोट दे सकते हैं और इच्छा होने पर भी नरीमन या और किसी योग्य अपने राजनीतिक मत के मुसलमान को नहीं। जनतन्त्र के प्रेमी अंग्रेज़ों ने भारतीयों से भारतीय के रूप में मतदान का अधिकार छीन लिया है। हमारे वोट सिर्फ़ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, ऐंग्लोइंडियन, सिख, पारसी इत्यादि के रूप में, न कि भारतीय के रूप में, हमें प्राप्त हैं। जैसे हमारे प्रतिनिधि राजनीतिक धारासभाओं में नहीं, बल्कि धर्म-सम्मेलन में जा रहे हों ! जो भी हो असम्प्रदायीकरण से भारतीयों को मताधिकार भारतीयों के रूप में मिलता है और साम्प्रदायिक अनुगमन के ऊपर आश्रित मताधिकार छिन जाता है। भारत को जिसे जातिस्तान बना दिया गया है, पुनः उसका पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्र पद देना ही पड़ेगा। असम्प्रदायीकरण से इस जातिस्थान पर जादू की लकड़ी फेरी जा सकती है और इसे संयुक्त और महान् भारतीय राष्ट्र बनाया जा सकता है।

असम्प्रदायीकरण की क्रिया-द्वारा ही संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका भाषाओं,

संस्कृतियों, जातियों और धार्मिक-दलों के सम्मिश्रण को राष्ट्रीय रूप दे सका है। युरोप की लगभग प्रत्येक जाति अमेरिका में पाई जाती है। युरोप के विभिन्न भागों से विभिन्न प्रकार के विदेशी अपने विभिन्न सांस्कृतिक, जातीय, भाषागत और साम्प्रदायिक विभेदों के साथ वहाँ आते हैं, परन्तु फिर भी अमेरिका की राष्ट्रीय चहारदिवारी के अन्दर कैथोलिक या मेथोडिस्ट, लूथरवादी या कैलविनिस्ट, ऐंग्लिकन या वैप्टिस्ट, विज्ञानवादी या सेविंथ डे ऐडवेंटिस्ट* दूसरी साम्प्रदायिक दीवारें तो खड़ी नहीं करते। इनमें से कुछ जातियों में तो परम्परागत साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक मतभेद बहुत अधिक गहरे हैं। परन्तु एक बार अमेरिकन नागरिक हो जाने के बाद जातीय या साम्प्रदायिक मतभेद उन्हें राजनीतिक जीवन में पृथक पृथक नहीं करते। जनता में वे आइरिश, जर्मन, इटालियन, रूसी, बलगेरियन या स्वीडिश रूप से नहीं, बल्कि केवल अमेरिकन रूप से पहचाने जाते हैं। जनता में वे कैथोलिक, प्रोटेस्टेएट, लूथरी या कैलविनिस्ट के रूप में नहीं बँटे रहते, वरन् 'अमेरिकन' के रूप में संयुक्त रहते हैं। ऐसा करने से यदि उनके अधिकार या उनकी सुविधाएँ, किसी दूसरों के अधिकार विचार, या सुविधाओं पर आक्षेप नहीं करतीं या आघात नहीं पहुँचातीं तो न तो उनके आवश्यक अधिकार और न उनकी सामाजिक, आर्थिक, अथवा राजनीतिक सुविधाएँ कम होती हैं। असम्प्रदायीकरण की इस शिक्षणात्मक प्रक्रिया-द्वारा इन विभिन्न धार्मिक एवं जातीय समूहों को अमेरिका को जातिस्तान में बदलने से रोका जाता है। यदि युरोप के निवासी अमेरिका जाने के १५-२० वर्षों में ही 'असाम्प्रदायिक' हो सकते हैं तो हिन्दुस्तान की अल्प-संख्यक जातियों को असाम्प्रदायिक होने में कोई विशेष कठिनाई न होनी चाहिए, खास कर जब वे कम से कम चार-चार पीढ़ियों तक साथ रह चुकी हैं। जब जाति, भाषा,

---

*ईसाई धर्म के विभिन्न मत या सम्प्रदाय।

संस्कृति और वर्गों की इस खिचड़ी में से भी अमेरिका के लिए राष्ट्रीय गुम्फन संभव हो सकता है तो भारत के लिए तो वह और भी सुविधाजनक है। इसके लिए एक सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है। इसके लिए एक मानसिक क्रान्ति की तुरन्त आवश्यकता है। लेकिन यह असंभव नहीं है। राष्ट्रीय विकास के लिए असाम्प्रदायिक राष्ट्रभक्ति, असाम्प्रदायिक योजनाएँ, रक्षण-सम्बन्धी असाम्प्रदायिक कार्य-क्रम, ये ही सच्ची देश-भक्ति की कसौटियाँ हैं।

अन्तर्साम्प्रदायिक-गुम्फन प्रणाली बहुत कुछ इसी दिशा में बढ़ रही है। परन्तु वास्तव में तो केवल राष्ट्रीय सरकार के ही ज़माने में इसकी गति में तीव्रता लाई जा सकती है, क्योंकि उस समय मस्तिष्क को साम्प्रदायिक चिन्तन-धारा से निकाल, अन्तर्साम्प्रदायिक चिन्तन-धारा की ओर ले जाया जा सकेगा और उसी समय रुचि और विचार-धारा के लिए, जन-समाज के मानसिक परिष्कार के लिए, योजनाएँ बनाई जा सकती हैं। यह तेली के बैल का चक्र तो नहीं है? जो हो, इससे निराश होने की ज़रूरत नहीं। ऐसे दूषित चक्रों को तोड़-फोड़ डालने के लिए इतिहास के पास अनेक निर्मल विधियाँ मौजूद हैं जिससे वह ऐसी रुकावटों और रुकावटें पैदा करनेवाली शक्ति को नष्ट करने की अविदित क्षमता का प्रयोग करता है। अमेरिका में दास-विरोधी प्रथा की भावना पहले पहल एक दर्जन या इससे भी कम लोगों में पैदा हुई, परन्तु शक्ति इकट्ठा करते-करते एक शक्तिशाली दल बन गया जिसने गृहयुद्ध-काल में समस्त विरोधियों का उस समय तक मुक़ाबला किया जब तक कि हरेक गुलाम आज़ाद न हो गया।

क्रान्तिकारी का भविष्य-स्वप्न और स्वतन्त्रता के वीरों की आस्था लिये हुए हम अपने झंडे को, चाहे वह फटा-पुराना ही क्यों न हो, ऊँचा रखेंगे। केवल अविजित आत्माएँ हारों के बीच भी तब तक लड़ती रह सकती हैं, जब तक हिन्दुस्तान अपनी खोई हुई एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता फिर से नहीं प्राप्त कर लेता।



[७]

आज़ादिस्तान

मूषकों और मनुष्यों के जीवन में भाग्य के विचित्र व्यंग दिखाई पड़ते हैं। प्रमाद-वश आदमी चाहता है कि चूहे उसे देखें और चुपके से दुम दबाकर निकल जायँ। लेकिन चूहे नम्रतापूर्वक आदमियों से आशा करते हैं कि वे इन अबौद्धिक उत्तेजनाओं को तराश कर, काट-छाँट कर, घिस और रगड़ कर, बौद्धिक जीवन-व्यवस्था के अनुकूल बना लें। आज तो व्यक्ति और समूह का 'स्वधर्म' एक स्वर में भेड़ों के मिमियाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी वंशानुगत जाति के अंधविश्वास, पेशा और जीवन-विधि सिखाई जाती है। उसे बताया जाता है कि वही उसका **स्वधर्म** है, जिससे उसे जोंक की तरह चिपके रहना चाहिए। सामाजिक पवित्रता और धार्मिक कट्टरता के नाम पर किसी प्रकार के मौलिक या नवीन कार्य करने की प्रेरणा का, नवीन प्राणी बनने के प्रयत्न का गला घोंट दिया जाता है। पर क्या सदा ऐसा ही रहा है? क्या सदा ऐसा ही रहेगा? चूहे उत्तेजित होकर चिल्ला पड़ते हैं—"नहीं!"

व्यक्तित्व की चतुर्विध प्रकृति

भारतीय परम्परा की घोषणा है कि परब्रह्म के ध्यान, उपासना और सानिध्य से मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति ('प्रज्ञा') प्रकाशित होती है, भावना-शक्ति ('तेजस्') परिष्कृत होती है, सदाचरण—नीति—शक्ति ('तुरीय') अनुप्राणित होती है और भौतिक शक्ति ('विश्व') पवित्र होती है। इस प्रकार मानव का सम्पूर्ण संयुक्त व्यक्तित्व अन्तर-दर्शन के प्रकाश में अपने लक्ष्य और स्वातंत्र्य को प्राप्त करने की ओर अग्रसर

होता है। व्यक्तित्व की चतुर्विध प्रकृति की इससे अच्छी और क्या स्वीकृति हो सकती थी? किसी समूह-विशेष का किसी एक गुण पर एकाधिकार नहीं है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण केवल मस्तिष्क या प्रज्ञा नहीं है; न शूद्र केवल शरीर है। हाँ किसी के स्वभाव, गुण एवं उसके विकास में मात्रा का अन्तर हो सकता है।

व्यक्तित्व के इस चतुर्विध विश्लेषण के ही दृष्टिकोण से हमें जाति-व्यवस्था को समझना और सामाजिक गठन में उसका प्रयोग करना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था का विश्लेषण

सामाजिक विभाजन की बुनियाद वंशानुगत न होकर व्यक्ति व जीव की चतुर्विध प्रकृति का अभिव्यंजन होना चाहिए। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति में प्रज्ञा, तेजस्, तुरीय और विश्व उपस्थित हैं। 'प्रज्ञा' मुख्यतः बंधन-मुक्ति या मोक्ष की प्रवृत्तियों में, 'तेजस्' मुख्यतः सृजनात्मक कार्यों या काम रूप में, 'तुरीय' धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रवृत्तियों या धर्म रूप में और 'विश्व' मुख्यतः जीविकोपार्जन-सम्बन्धी उद्योग या अर्थ रूप व्यक्त होता है। यदि यह सत्य है तो प्रत्येक व्यक्ति की मूल प्रकृति में ही इन गुणों की प्रतीक रूप चारों जातियाँ समाहित हैं। किसी गुण की ओर अधिक प्रवृत्ति होने या उसी में पूर्णतः केन्द्रित होने के कारण वह अपना चुनाव करता है। जीवन-निर्वाह के व्यापार में संलग्न कोई भी पुरुष शूद्र या श्रमिक है; यदि वह सृजनात्मक प्रवृत्तियों में लगा हुआ है तो वैश्य, कारीगर या कलाकार है; यदि व्यवस्था या शासन-कार्यों में संलग्न है तो क्षत्रिय या सांस्कृतिक परम्परा का रक्षक है; यदि उद्धारात्मक कार्यों में लगा है तो ब्राह्मण या तत्त्वज्ञानी है। आधुनिक शब्दावली को इस व्याख्या के सम्बन्ध में हमारे मनोभावों पर आपत्ति न होनी चाहिए। भारतीय साहित्य में जिन स्थितियों का वर्णन मिलता है, उनसे इस व्याख्या का समर्थन होता है। सामाजिक आधार-शिला के परिवर्तनों के लिए सामाजिक मूल्यों की व्याख्या में भी तदनुकूल परिवर्तन आवश्यक है।

प्रचलित जाति-व्यवस्था के दूषित भेदों को दूर कर ऐसा ही सामाजिक-विभाजन सामञ्जस्य उपस्थित कर सकता है। वर्तमान रूप में प्रचलित जाति-व्यवस्था तो भारतीय संस्कृति की ऐक्य भावना का विद्रूप है। मनुष्य का जन्म उसकी जाति न निर्धारित करेगा; उसकी जाति उसके स्वधर्म पर निर्भर होगी। संयोग-वश एक ब्राह्मण-गृह में उत्पन्न ब्राह्मण सदा सच्चा ब्राह्मण नहीं होता; सदा क्या कदाचित् ही वह सच्चा ब्राह्मण होता है। यह बिल्कुल संभव है कि उचित एवं आवश्यक सुविधाएँ मिलने पर एक शूद्र बहुत से ब्राह्मणों से आगे निकल जाय जैसा कि वशिष्ठ के पौत्र पराशर के, या व्यास के, जिनकी माँ कदाचित् धीवरिन थीं, उदाहरणों से स्पष्ट है। किन्तु बाद में कट्टरों ने शुद्ध वर्णाश्रम-धर्म पर जो बोझिल सामाजिक ढाँचा खड़ा किया उसने उसे कुचलकर उसकी मूल-भावना को नष्ट कर दिया और उसपर एक जड़ बोझ के रूप में लदा हुआ है।❀ उसकी 'अनेकता में एकता' की विशेषता नष्ट कर दी गई है। केवल दिखावटी आवरण मात्र रह गया है। प्रत्येक जाति अपने अलग रीति-रिवाज, धार्मिक रीतियों और देवताओं को लेकर एक अलग 'फ़िरक़ा' बन गई है। अपनी जाति के पेशों को बदलनेवाला निन्दनीय हो गया है। अन्तर्जातीय विवाह और अन्तर्जातीय खान-पान को पाप-पूर्ण बता कर निषिद्ध कर दिया गया है। केवल शाश्वत क्षुद्रता शूद्रों के पल्ले पड़ी है। उनकी जाति विजित जाति है। अन्य वर्णों को दासों का दान करना ही उसका काम है। उप-विभाजन का क्रम यहाँ तक चला कि लगभग तीन हज़ार जातियाँ बन गईं, जिनके कदाचित् अलग-अलग ३००० स्वधर्म हैं; १८०० प्रकार के तो ब्राह्मण ही हैं जो शायद ब्रह्म को १८०० विभिन्न रूपों में जानते हैं, या फिर १८०० विभिन्न प्रकार के ब्रह्म को जानते हैं!

जाति-व्यवस्था की विकृतियाँ

❀ स्वामी धर्मतीर्थः 'मीनेस आव् हिन्दू इम्पीरियलिज़्म' अध्याय १८।

जाति-व्यवस्था के समर्थन में यह दलील देना कि जब निनेवे, टायर, बैबिलन, यूनान और रूम की सभ्यताएँ नष्ट हो गईं तब भी इसी व्यवस्था ने भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखा है बहुत कुछ इस दलील की तरह है कि प्राचीन काल में चीन की स्त्रियाँ अपने लोहे के जूतों में कसे और विकृत पैरों के कारण अधिक दिनों तक जीवित रहती थीं। कोई संस्कृति किसी ऐसे सामाजिक श्रेणी-विभाजन की शक्ति पर पनप नहीं सकती, जिसका अर्थ दो तिहाई आदमियों की हीनता हो। धर्म के आधार पर इसका समर्थन करने का मतलब तो धर्म और अन्याय को समानार्थवाची घोषित करना है। क्योंकि उत्पीड़न में कोई न्याय नहीं हो सकता। विरासत (वंशानुक्रम) और प्रवृत्ति के स्वाभाविक भेदों के आधार पर इसका समर्थन करना पत्थर की दीवार के बीच से चलने का प्रयत्न करने के समान है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञात मनोवैज्ञानिक नियम इस अंधविश्वास का खंडन करता है कि शूद्र के अन्दर उससे कोई उच्चतर कार्य करने की शक्ति का विकास नहीं हो सकता, जो उससे जबर्दस्ती कराया जाता है। और इस आधार पर इसका समर्थन करना कि इससे सर्वोच्च कर्म-कुशलता द्वारा समाज की उन्नति होती है मानो यह कहने के बराबर है कि पतन वा ह्रास, उन्नति वा विकास का ही दूसरा रूप है। क्योंकि इतिहास बताता है कि एक हज़ार साल पहले अब से कहीं ज्यादा सामाजिक कुशलता थी।

पत्थर की दीवार के बीच चलने का यत्न

सामाजिक विकास और राजनीतिक सुदृढ़ता दोनों के लिए वर्तमान जाति-प्रणाली समान रूप से हानिकर इसलिए है कि उसमें व्यक्तियों और समुदायों को एक ढला-ढलाया आनुवंशिक (मौरूसी) फौलादी खोल पहनाकर उनके स्वधर्म, सामाजिक व्यवहार, विकास एवं उन्नति के क्षेत्र और राष्ट्रीय दृष्टिकोण को सीमित—संकुचित—कर दिया जाता है। इन वंशानुगत

हिन्दुओं की हानि

वन्धनों का वास्तविक परिणाम यह होता है कि प्रत्येक जाति दूसरी से अलग, एकाकी, हो जाती है; दूसरों के प्रति निष्ठुर एवं अपनी ही परिधि में जीनेवाली। फिर वह चिरकाल के लिए उसी संकुचित सीमा में रहती है। इस रीति के अनुसार हर जाति अपने ही फ़िरके या जाति की राजनीति में दिलचस्पी लेती है; राष्ट्र की समस्याओं की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। वह प्रत्येक दूसरी जाति या वर्ग के प्रति संदेहशील होती है। जाति-प्रणाली से जो पृथक्करण की या विघटन की भावना जाग्रत होती है, उसके कारण स्वयं हिन्दुओं में असन्तोष, अनैक्य और दुर्भावना की वृद्धि होती है। केवल धार्मिक अन्धविश्वास, निरक्षरता और हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष के अनिश्चित भय के कारण हिन्दुओं में थोड़ी-बहुत एकता का आभास मिलता है।*

असम्बद्धता

जब हिन्दू-धर्म के ही अन्तर्गत पाई जानेवाली ३००० या इससे भी अधिक जातियों में समन्वय और सह-गठन की भावना का बहिष्कार किया जाता है तब हम हिन्दुओं और अन्य मतावलम्बियों के बीच समन्वय तथा सह-गठन की आशा कैसे कर सकते हैं? सच तो यह है कि जाति से उत्पन्न फ़िरक़ाबन्दी जातिहीनों या वहिष्कृतों को अधीन रखने की प्रबल प्रवृत्ति को उत्तेजन देती है। अहिन्दू-वर्गों या म्लेच्छों को स्पष्ट रूप में बहिष्कृत समझा जाता है। तब कुछ क्रुद्ध मुस्लिमलीगी यदि हिन्दुओं को काफ़िर कहकर मुसलमानों में इसी तरह की उच्चता का जोश पैदा करने की कोशिश करते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? उनकी इस करनी से बहुत से हिन्दू-नेताओं को झुँझलाहट होती है, क्योंकि अनजाने (या अन्तर्मन से) वे जाति-हीन अहिन्दुओं से भी उसी अधीनता की आशा रखते हैं

---

* स्वामी धर्मतीर्थः 'सीक्रेट ऑव् हिन्दू-संगठन', विशेषतः कारटूनों—व्यंगचित्रों—वाला अंश।

जो वे हिन्दू जाति वहिष्कृतों से रखते हैं। एक शिक्षित हिन्दू ब्राह्मण को अपने ईसाई मित्र (जो स्वयं ब्राह्मण वंश में पैदा हुआ था) द्वारा दी गई चाय पीने से इन्कार करने में ज़रा भी ख्याल न हुआ, किन्तु जब उसी ईसाई ने ब्राह्मण मित्र के पान को खाने से सरेआम इन्कार कर दिया तो उसे बड़ा अचंभा हुआ। खैर, ये तो छोटी बातें हैं। परन्तु ऐसी बहुत-सी छोटी-छोटी बातों के एकत्र हो जाने से राष्ट्रोत्थान, ऐक्य और स्वाधीनता के मार्ग में एक बड़ी बाधक दीवार खड़ी हो गई है।

जाति-व्यवस्था के विघटन का फल

जैसी विवेक की माँग है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर स्वयं ही व्यक्तित्व के चारों सक्रिय व्यञ्जनात्मक वर्ण निहित हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्तित्व के चतुर्विध विकास के साथ है तो दूषित वंशानुगत प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं। इस तरह किसी व्यक्ति वा वर्ग पर ज़बर्दस्ती लादी गई असमानता के बन्धन टूट जायँगे। ऐसा करते ही मानवीय व्यवहार में दूसरों को अधीन रखने की जगह दूसरों से सहयोग प्राप्त करने की प्रवृत्ति जाग्रत होगी। सब मनुष्यों की समानता की स्वीकृति से ही एक ऐसे कुशल जन-तंत्र के विकास का वातावरण पैदा होगा, जिसमें सबको समान सुविधाएँ, ज़िम्मेदारियाँ और अधिकार होंगे। जब अहंकारी हिन्दू मस्तिष्क सबके समानता के अधिकार को सिद्धान्त और व्यवहार दोनों रूपों में स्वीकार कर लेगा तब वर्तमान जाति-प्रथा पर आश्रित फिरकाबन्दी का अन्त हो जायगा और उसी के साथ सामाजिक-आर्थिक साम्प्रदायिकता के खंभे भी ढह जायँगे। तब राजनीतिक क्षेत्र में साम्प्रदायिकता की पूछ न रह जायगी, क्योंकि सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता और सहयोग का सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण एक नये भाईचारे का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उसी समय यह संभव हो सकेगा कि हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों को अनुभव हो कि अपने लिए न्यायपूर्ण अधिकारों की माँग करने के पूर्व हमें स्वयं दूसरों के प्रति न्यायपूर्ण

होना पड़ेगा; अपने अधिकारों पर ज़ोर देने के साथ दूसरों के अधिकारों की रक्षा का कर्तव्य भी अपने ऊपर आता है और यह कि स्वतंत्रता के अधिकार के साथ दुर्बलों की स्वतंत्रता की रक्षा की ज़िम्मेदारी भी आती है। तब समानता की ये शर्तें जनता के दिमाग़ से उतनी दूर न रह जायँगी, जितनी दूर आज हैं। तब राजनीति में कोई जातिगत प्रभुत्व न रह जायगा।

जब हर आदमी चाहे जीविकोपार्जन के लिए वह जो पेशा इख़्तियार करे या आध्यात्मिक तुष्टि के लिए वह जो भी धर्म अंगीकार करे, सामान्य मानवता की सुविधाओं को पाने एवं भोगने के लिए स्वतंत्र होगा, जब उसे अपने मन और अपनी बुद्धि का विकास करने तथा शान्ति, शक्ति एवं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की उचित सुविधाएँ प्राप्त होंगी तब वह अपनी पूरी क्षमता के अनुरूप समाज की सेवा कर सकेगा। तब स्वधर्म के आदर्श का कुछ अर्थ होगा। आज तो वैसा कुछ भी नहीं है; आज तो वह निरर्थक है। आज तो यह स्वधर्म हिंदू-समाज के उस गुणीकरण यंत्र की मूठ के रूप में रह गया है जो हज़ारों की संख्या में ढले-ढलाये और सर्वथा अयोग्य पंडित, ठाकुर, बनिया और शूद्र, सेवकों का निर्माण करता जा रहा है। जाति-बन्धनों का अन्त हो जाने के बाद समाज एक जीवन-प्रद नियंत्रण के रूप में बदल जायगा जो चमारों को रैदास, जुलाहों को कबीर और बनियों को गांधी के रूप में ढालने में सचेष्ट होगा। तब सामाजिक जीवन फिरकेवाराना अन्ध-विश्वासों में उलझा न होकर शक्तिपूर्ण समाजवादी तात्पर्यों की पूर्ति का जीवन होगा।

समाजवादी तात्पर्यों का अर्थ होगा एक नई समाज-व्यवस्था का निर्माण। वह एक ऐसा समाज होगा जिसमें पुराने झगड़े न होंगे, पुरानी अहम्मन्यताएँ न होंगी, पुराने द्वेष एवं कटुताएँ न रह जायँगी। वह एक ऐसा समाज होगा, जिसमें पुरानी काल-कोठरियाँ न होंगी, न पुरानी शृंखलाएँ होंगी।

वह स्वप्न !

वह कुछ के लिए बन्दीगृह-सा न होगा। वह सबका आश्रय-स्थान होगा;

वह देश के कोटि-कोटि जनों को अपने अन्दर स्थान देगा, उन्हें एक नूतन आत्म-सम्मान की भावना से दीक्षित करेगा और उन्हें जीवन को सुन्दर, प्रभावपूर्ण और सार्थक बनाने की नूतन प्रेरणा प्रदान करेगा। तब भारत सच्चे अर्थों में आज़ादिस्तान—स्वतंत्र आदमियों का देश—होगा। प्रत्येक भारतीय की एक ही जाति होगी—कर्मियों की जाति। केवल एक ही समाज—श्रमिकों के समाज का अस्तित्व रह जायगा। शासक और शासित, मालिक और मजूर, कानून-निर्माता और कानून का पालन करने-वाले नागरिक सब स्वतंत्र होंगे, और कोटि-कोटि स्वतंत्र जनों के एक शक्तिमान एवं स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण करेंगे। जब भारी बोझों से उनकी कमर का झुकना बन्द हो जायगा तभी उन्हें इसका मौका मिलेगा कि अपना सिर और आँखें उठाकर देखें और एक दूसरे को साथी, श्रमिक और भाइयों के रूप में पहिचानें। तब भाईचारे के उस वातावरण में आज के ऐसे अनेक सन्देह और भय, जो विभिन्न जातियों में ईर्ष्या-द्वेष और फूट फैला रहे हैं, न रह सकेंगे। तब सुविधाओं की समानता, सामाजिक मर्यादा की समानता, राजनीतिक अधिकारों की समानता समस्त पुराने घावों को भर देगी। उस समय स्वधर्म का अर्थ हमारा कर्त्तव्य होगा और दोनों का अर्थ होगा—'राष्ट्रीय कर्त्तव्य'।

राष्ट्रीय शिक्षण का कार्य

समाजवादी आदर्श से अनुप्राणित शिक्षा-प्रणाली राष्ट्रीय गुम्फन एवं ऐक्य की क्रिया को द्रुत कर देगी। वह भावी पीढ़ियों को समस्त विभेदकारी दीवारों को तोड़ डालने की शिक्षा देगी। वह उनको एकता की संकल्प शक्ति से अनुप्राणित करेगी। वह उन्हें सामूहिक जीवन बिताने का अर्थ और आनन्द बतावेगी। वह विचार के पुराने साँचों को हटाकर उनकी जगह नयों का निर्माण करेगी। वह लड़कों, लड़कियों को पुराने दूषित रीति-रिवाजों के अनुसार नहीं, बल्कि समाज के सर्वांगीण विकास, राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के कार्य में अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक

भाग लेने के लिए प्रेरित करेगी। कोई नीच जाति में पैदा होने के कारण नहीं, बल्कि सुस्त और काहिल होने के कारण बहिष्कृत होगा। भाईचारे के विरुद्ध बर्ताव करना अपराध माना जायगा। उस भाईचारे के समाज में अशोक का धार्मिक ऐक्य का स्वप्न, अकबर का धार्मिक भ्रातृत्व का स्वप्न पूरा होगा—उसमें सामूहिक कल्याण, सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक विकास के लिए उल्लसित वदन और गौरवपूर्ण हृदय वाले आदमियों का महान् वर्ग साथ-साथ काम करेगा। समाजवाद के एक झोंके में भारत की कितनी ही समस्याएँ सुलझ जायँगी।

परन्तु, चाहे मार्क्स के समाजवादी विचारों का प्रसार हो या न हो, जाति-सम्बन्धी विभेदों को तो नष्ट होना ही पड़ेगा। तभी साम्प्रदायिकता का समूल विनाश संभव हो सकेगा; उसके पूर्व नहीं।

चमत्कार भी सम्भव है

बहुत से अदूरदर्शी व्यक्ति सोचते हैं कि जाति-भेद के रोग को दूर करने के लिए शायद किसी आश्चर्यजनक चमत्कार की ज़रूरत है; परन्तु याद रखना चाहिए कि आज से पहले भी ऐसे कई चमत्कार मानवी शक्तियों द्वारा हो चुके हैं। जिस समय जर्मनी की राजनीति में हिटलर का पदार्पण हुआ, जर्मनी युरोप का सबसे अधिक जाति-प्रताड़ित देश था। वे सब रईस जो अपने नाम के पूर्व 'वान' लगाने के अधिकारी थे, मानो हमारे ब्राह्मणों के समान थे। सामन्तवर्ग की एक सैनिक उपजाति क्षत्रिय के समान बन बैठी थी; सेना के अफ़सर इसी जाति से बनाये जाते थे। वैश्यों के दो वर्ग थे—शिक्षित और अशिक्षित। इनमें से केवल शिक्षितवर्ग वाले वैश्य ही अपने व्यय से एक साल तक सेना में स्वयंसैनिक का काम कर सकते और इस प्रकार 'सुरक्षित (रिज़र्व) अफ़सर' होने का सामाजिक सम्मान ख़रीद सकते थे। शूद्र अलग-अलग कई छोटी जातियों में बँटे हुए थे। पोस्टमैन सामाजिक मर्यादा में कारीगर मजूरों से ऊँचा समझा जाता था। कारीगर अपने को शरीर-श्रमिकों से ऊँचा समझता था।

'हिस्टैंज़न' [१] की भावना का जर्मनी में वैसा ही राज्य था जैसा हमारे यहाँ छूत की भावना का है। फिर भी नात्सी आन्दोलन ने जाति-प्रथा की गहरी जड़ों को निर्मूल कर जर्मनी में अप्रत्याशित ऐक्य स्थापित कर दिया। क्या हिन्दू-महासभा वैसा ही चमत्कार करके नहीं दिखा सकती ? अवश्य ही, यदि वह भारतीय महिला सम्मेलन ('आल इंडिया वोमेंस कान्फ्रेन्स') से मिलकर काम करे तो इन दोनों की सम्मिलित शक्ति द्वारा सार्वजनिक और घरेलू जीवन से जाति को निर्मूल किया जा सकता है और यों असम्प्रदायीकरण की विजय-यात्रा का मार्ग चतुर्दिक खोला जा सकता है। इस अमूल्य सहयोग के लिए प्रत्येक प्रान्त में तीन विभाग स्त्रियों के ज़िम्मे कर देना चाहिए; १. सार्वजनिक स्वास्थ्य, २. स्वायत्त शासन और ३. अर्थ। इससे राष्ट्रीय सरकार में अत्यन्त कुशलता का समावेश होगा और विरोधी-दल की शक्ति घट जायगी। क्योंकि सरकार की इन तीन महिला-मंत्रियों की आकर्षक मुस्कान और झुँझलाहट भरी भ्रूभंगिमा का विरोध करने में कौन-सा विरोधी-दल समर्थ होगा ? फिर इससे जन-स्वास्थ्य, स्वायत्त शासन और अर्थ-विभाग के कार्य भी समुचित रूप से चलने लगेंगे।

चाहे जो हो, यदि भारत को 'आज़ादिस्तान' बनना है तो उसे मन और कर्म से सब जाति-भेदों और जाति के साँचों को मिटाना ही पड़ेगा। जाति और स्वतंत्रता परस्पर-विरोधी हैं। जाति और ऐक्य परस्पर-प्रतिकूल हैं। भविष्य में भारत को ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व को अब से अधिक समन्वय और सहकार की आवश्यकता होगी। जब तक हम अपने घर में और अपने राष्ट्रीय जीवन में समन्वय, सहगठन और सहकार को नहीं अपनाते तब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और सहयोग के लिए कैसे

---

१. हिस्टैंज़न=सामाजिक श्रेष्ठता। इसकी मान्यता है कि प्रत्येक वर्ग का सामाजिक जीवन में एक स्तर है; उसे अन्य दूसरे वर्गों से दूर रहना होता था।

तैयार किये जा सकते हैं ? जाति-भेद से समन्वय एवं सहगठन कष्टप्रद हो जाता है। उपांत्र ('अपेंडिक्स') की भाँति जाति-व्यवस्था भी विकास-क्रम की बीती हुई श्रेणी का चिह्न मात्र है जो समाज-शरीर को व्यर्थ व्यथित किये हुए है। यदि इसके आप्रेशन के लिए डा० जिन्ना, डा० मुंजे और डा० अम्बेडकर मिलकर संयुक्त प्रयत्न करें तो वह अवश्य ही एक देश-भक्ति का कार्य होगा। तब साम्प्रदायिकता का जीर्ण उपांत्र शोथ (अपेंडिसाइटिस) तुरन्त अच्छा हो जायगा। तब हम लोगों का एक अत्यन्त स्वस्थ राष्ट्र होगा, एक सुदृढ़ और शक्तिमान राष्ट्र, जो किसी भी भोजन को पचा लेगा और किसी भी कठिन एवं साहसिक कार्य में प्रवृत्त हो सकेगा। इस चीर-फाड़ की सेवा के लिए हम उन तीनों डाक्टरों को प्रसन्नतापूर्वक पारितोषिक रूप में एक-एक जागीर देंगे—इन तीनों डाक्टरों को जो अभी केवल भारत के सड़ते हुए शव की ही डाक्टरी करने में आनन्द ले रहे हैं।



२. अपेंडिक्स=मनुष्य के शरीर में अँतड़ियों में एक ऐसा अवयव है जिसका शरीर-प्रणाली में कोई उपयोग नहीं रह गया है।

वीरिस्तान : वीर-देश

किसी उद्देश्य के प्रति अपनी आस्था सिर्फ चीखने-चिल्लाने से नहीं प्रकट होती; ठीक अवसर पर उसके प्रति अपनी सहमति प्रकट करना कहीं अधिक कारगर साबित होता है। पिछली बार क्रिप्स के आगमन के कुछ पहिले, अखिल भारतीय ईसाई कौंसिल के तात्कालिक सभापति डा० डी० एस० रामचन्द्रराव ने चर्चिल (ब्रिटेन के तात्कालिक प्रधान मंत्री) और क्रिप्स को निम्नाशय का समुद्री तार भेजा था—"ईसाइयों की अखिल भारतीय कौंसिल भारत की आज़ादी की माँग का समर्थन करती है। कृपया सुन्दर एव उचित व्यवहार करें।" हिन्दू-महासभा ने कहा था—"बिना हमारी राय लिये हिन्दुस्तान-सम्बन्धी कोई निर्णय न किया जाय।" हिन्दू-महासभा और ईसाई कौंसिल द्वारा भेजे गये समुद्री तारों में व्यक्त मनोभावना के भेद को देखकर सन्तोष मिलता है।।

लगभग इसी समय श्री फजलुलहक और स्व० अल्लाबख्श ने भी भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए अपने वक्तव्य ब्रिटिश अखबारों में भेजे थे। राष्ट्रीय मुस्लिम सम्मेलन की देश-भक्तिपूर्ण भावना, हरिजनों-द्वारा पाकिस्तान तथा मुस्लिमलीग की ५० सैकड़ा अधिकार की माँग की आलोचना (डा० अम्बेडकर ने इस माँग को 'शैतानी' कहा है) अल्पसंख्यकों की समस्या को और अधिक सरल कर देती है। भविष्य के लिए यह अच्छा शकुन है। यह कांग्रेस के असीम धैर्य की प्रत्यक्ष व्यञ्जना है।

लेकिन केवल सुगन्धित फूलों के नाम दोहराने से तो दुर्गन्ध दूर नहीं

फूलों के नाम दोहराने से दुर्गन्ध नहीं जाती

होती, और न केवल राष्ट्रीय मुसलमानों, ईसाइयों और हरिजनों-द्वारा राष्ट्रीय माँग का समर्थन करने से ही राजनीतिक साम्प्रदायिकता मिट जाती है। हाँ, इन घोषणाओं को दोहराने का महत्व तो है ही। सम्प्रदायवादी नेताओं और समूहों का राष्ट्रीय माँग का समर्थन करना उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना उस मनुष्य का साहस जो हिच-किचाती भीड़ में टीका लगवाने को सबसे पहले हाथ बढ़ाता है। पर उनका यह कार्य उसी समय प्रभावशाली हो सकता है जब सब दर्शक, तथा उन्हीं के सम्प्रदाय वाले अथवा अनुयायी और बहुसंख्यक दल के लोग भी सम्प्रदायवादिता के विरुद्ध टीका लगवा लें। यदि बहुसंख्यक दल वाले लोग साम्प्रदायिकता के कीटाणुओं की छूत के शिकार बने रहें तो महामारी बार-बार उमड़े बिना न रहेगी, चाहे बाहर से उसे उत्तेजना न मिले।

यहाँ कर्म का सिक्का चलता है

विदेशी स्वार्थों और प्रभुताप्राप्त विदेशी वर्ग से मुक्त भारत में भड़का कर पैदा किये जानेवाले झगड़ों की संख्या स्वभावतः कम होगी। फिर भी जब तक राष्ट्रीय सरकार अपने उदारतापूर्ण व्यवहार से अल्पसंख्यक जातियों का विश्वास नहीं प्राप्त कर लेती तब तक भारत के सम्पूर्ण वर्गों का हार्दिक एवं पूर्ण समर्थन राष्ट्रीय सरकार को प्राप्त नहीं होगा। महायान गांधीवाद, अखंड मुंशीवाद, पाक जिन्नावाद, स्वदेशी मुंजेवाद और कांग्रेस प्रस्ताववाद से साम्प्रदायिक ऐक्य की ओर अधिक प्रगति नहीं हो सकती। वह लाउडस्पीकरों (लम्बी-चौड़ी वक्तृताओं) से नहीं, उदार एवं विशाल हृदयों-द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। राज-नीतिक सम्बन्धों में लक्ष्य नहीं कर्म का सिक्का चलता है। त्याग करने के संकल्प से रहित सद्भावनाएँ उस दावत की तरह हैं, जिसमें खाली पत्तलें ही परसी जाती हैं।

अधिकांश कांग्रेसजनों-द्वारा अल्पसंख्यकों को दी जानेवाली दावत खाली पत्तल वाली दावत की तरह है जिसमें 'वचने किम् दरिद्रता' वाली उक्ति चरितार्थ होती है। संघटन की दृष्टि से अवश्य ही

खाली पत्तल वाली दावतें

कांग्रेस अन्तर्साम्प्रदायिक, जातियों एवं सम्प्रदायों की सीमा से परे है। और कांग्रेस के सर्वोच्च नेतागण भी निस्सन्देह असाम्प्रदायिक हैं। उनका जीवन, चिन्तन, भावना और कार्य साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित हैं, पर क्या यही बातें उन सब कांग्रेसजनों के लिए भी कही जा सकती हैं, जिन्होंने मंत्रि-मण्डलों में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया? यदि केवल खद्दर पहनने से ही लोगों के ऊपर जादू हो जाता, वे राष्ट्रवादी बन जाते और फिर कभी साम्प्रदायिक भावावेश में न आते या किसी अज्ञात शक्ति से प्रत्येक गांधी टोपी-धारी गांधीवादी हो जाता तब तो हम बड़े सरल विश्वास के साथ भविष्य का सामना कर सकते। पर यदि इसमें कुछ सन्देह है तब भारत की भावी राष्ट्रीय सरकार को साम्प्रदायिक अविश्वास की जड़ों को समझकर उन्हें उखाड़ने में अधिक सजग रहना पड़ेगा। सिर्फ़ उसके अस्तित्व से इन्कार करने से कुछ विशेष लाभ न होगा।

अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए वैधानिक यंत्र में सुरक्षा के नियम बना देने से ही काम न चलेगा। यह ठीक है कि स्वतंत्र भारत का विधान प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए स्वतंत्रता,

राजनीतिपटुता का वास्तविक अर्थ

न्याय और समानता की घोषणा करेगा। परन्तु उसे इसके आगे बढ़कर प्रत्येक नागरिक के लिए यह स्थिति उत्पन्न कर देनी होगी कि उचित एवं आवश्यक योग्यता होने पर वह बिना जाति, धर्म, लिंग के भेद-भाव के सर्वोच्च पदों को प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, उसे इसके भी आगे बढ़कर ऐसी अवस्था को असंभव बना देना होगा, जिसमें बहुमत-दल चालाकी के साथ 'विभाजन और शासन' की साम्राज्यवादी नीति अंगीकार कर अल्पसंख्यकों का शोषण करे। इसके लिए विधाननिर्मात्री परिषद् में बहुमत-दल को

उच्च नैतिकता का प्रमाण देना होगा। इसके लिए उच्चकोटि की नीति-पटुता आवश्यक होगी। इसे बार बार दोहराने की ज़रूरत नहीं है कि राजनीति-पटुता का अर्थ दूसरों को मूर्ख बनाना नहीं है, बल्कि उसका सच्चा अभिप्राय दल और सम्प्रदाय की सीमा से ऊपर उठकर और अतीत की ग़लतियों तथा वर्तमान की कटुताओं के परे होकर ईमानदारी और सच्चाई के साथ सोचने-समझने की शक्ति है। और ईमानदारी तथा सचाई के साथ विचार करने का अर्थ है द्वेष की आकर्षक खाई तथा अस्पष्टता के मनोरम गड्ढों से बचकर स्पष्ट मार्ग का ग्रहण।

संयुक्त-दली सरकार की अपेक्षा सच्चे अर्थों में एक और सहगठित तथा एकता की अपेक्षा अधिक गहरे रूप में सुदृढ़ भारत हमारे लिए सदा वाञ्छनीय है। पर आज तो, जब संसार में भावी युद्ध के लिए पुनः गुटबंदी होने लगी है, उसकी और भी अधिक आवश्यकता है। हमें आज ऐसे राष्ट्र की आवश्यकता है जो वाद-विवाद के लिए एकत्र होने की जगह, एक और सहगठित होकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सके, अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सके; जिसकी शक्ति उप-प्रदेशों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और फलतः अपने-अपने अधिकारों के लिए शोरगुल मचाने में बँटी हुई न हो। ऐसा जीवन्मय ऐक्य पारस्परिक सदाशयता और पारस्परिक सम्मान, संयुक्त कार्य और संयुक्त स्वार्थों से ही उत्पन्न होता है। हमें एक विचार-धारा, एक भक्ति और एक विश्वास के बन्धन में बँधकर एक साथ चलना होगा। विचार-धाराओं से सम्बन्ध रखने-वाली ग़लतफ़हमियाँ और मतभेद कार्य की एकता नहीं उत्पन्न कर सकते। हिचकिचाहट, अविश्वास और सन्देह के द्वारा विभिन्न वर्गों के स्वार्थों का सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। कठोर वास्तविकतावादी *हार्डी

एक सुदृढ़ और शक्तिमान राष्ट्र की आवश्यकता

---

* हार्डी=प्रसिद्ध अंग्रेज़ी साहित्यकार।

की उक्ति यहाँ बहुत काम की साबित होगी—"अगर सुन्दर भविष्य के लिए सही रास्ते की खोज है तो बुरी से बुरी स्थितियों का पहले से ही पूर्ण विचार कर लेना चाहिए।" उदाहरण के लिए यदि राष्ट्रवादी (सम्प्रदायवादियों के प्रतिकूल) राजनीति में सम्प्रदायवाद के बुरे से बुरे रूपों का विचार कर लें, उसके आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक भय के स्रोतों को समझ लें, कट्टरता के क्रूर कृत्यों में सतह पर आजानेवाली अविवेकपूर्ण भावनाओं की कल्पना कर लें और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के बने रहने की विभीषिका तथा कुफल को जान लें तो शायद इससे सभी राष्ट्रवादियों को धर्म तथा दूसरे भेदों के होते हुए भी अल्पसंख्यक जातियों को समझने के लिए तथा उन्हें राष्ट्रीय दृष्टिकोण ग्रहण कराने के लिए, देश के भावी निर्माण में उनकी क्या देन होगी, इसे समझाने तथा राष्ट्रीय विचार-धारा की समीचीनता प्रकट करने के लिए एक प्रबल संघटित आन्दोलन करने की प्रेरणा होगी।

क्या इनके बिना राष्ट्रीय जीवन संभव है ?

कट्टरों में शायद ही कोई ऐसा पागल कट्टर होगा जो इससे इन्कार करे कि अल्पमत वाली जातियों की देन से हमारा राष्ट्रीय जीवन अधिक समृद्ध, अधिक उज्ज्वल और अधिक प्रभावशाली हो सकता है। क्या आप उस राष्ट्र-व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं, जिसके पुलीस विभाग में साहसी और चतुर मुसलमान न हों या जिसका रेल-विभाग विश्वसनीय ऐंग्लो इंडियनों से रहित हो, या जिसकी फ़ौजों और हवाई सेना में निर्भय सिख और साहसी पारसी न हों, या जिसका शिक्षा-विभाग भारतीय ईसाइयों से शून्य हो ? उस राष्ट्रीय सिनेमा जगत् की कल्पना कीजिए जिसमें भारतीय ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, पारसी और ऐंग्लो-इंडियन कलाकार न हों। ये लोग तो आज भी व्यवहार में न केवल इसका प्रदर्शन कर रहे हैं कि लाखों आदमियों के अन्धकारमय जीवन में प्रकाश की और आनन्द की किरणें कैसे पहुँचाई जा सकती हैं,

बल्कि यह भी कि असम्प्रदायीकरण की क्रिया को वे कैसे आगे बढ़ा सकते हैं ? संगीत और कला के क्षेत्र में मुस्लिम प्रतिभा की माँग सदैव रहेगी। सामाजिक-कला-शीलता में सदैव ऐंग्लोइंडियनों और भारतीय ईसाइयों का स्वागत किया जायगा। परोपकारपूर्ण कार्यों एवं औद्योगिक साहस के लिए सदैव पारसियों की सहायता अपेक्षित होगी। और सामाजिक-आर्थिक यंत्र को ठीक तरह से चलाने के लिए हरिजनों और किसानों तथा उन पसीना बहाने वालों की सदैव पूछ होगी जिनके बिना काम नहीं चल सकता।

इतिहास ने वस्तुस्थिति कुछ ऐसी बना दी है कि हमें एक दूसरे की आवश्यकता है; हम एक दूसरे के पूरक हैं। हम लोग आज 'हिन्दू भारत', 'मुसलमान भारत' और 'ईसाई भारत' के रूप में सोच ही नहीं सकते। अगर हम अब भी ऐसा सोचते हैं तो वह या तो मूर्खतापूर्ण विक्रांत है या कल्पना की काव्यात्मक उड़ान है। कट्टर साम्प्रदायिकता के फैले होते हुए भी बीसवीं सदी का भारत विभिन्न असाम्प्रदायिक शक्तियों से प्रबल रूप में प्रभावित हो रहा है। इक्कीसवीं सदी का भारत तो हिन्दू, मुसलमान और ईसाई संकुचित साम्प्रदायिकता से और भी दूर हटकर एक सहगठित राष्ट्रीय जीवन का विकास करेगा।

दोनों निर्देशों में कोई विरोध नहीं है

इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जब हम कहते हैं कि अल्पसंख्यक वर्गों की राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में अपनी-अपनी विशेष देन होगी तथा असम्प्रदायीकरण एक ऐतिहासिक क्रिया है जो एक सम्प्रदायेतर राष्ट्रीय घटक का निर्माण करके रहेगी, तो इन दोनों कथनों में कोई विरोध या परस्पर प्रतिकूलता नहीं है। जिस देन की हम बात करते हैं और जिसकी आशा करते हैं वह एक-दूसरे से अलग क्षेत्रों में अपना-अपना झंडा फहराने की देन नहीं है; वह देन है भिन्न प्रतिभावाले, विविध वातावरण वाले व्यक्तियों की, जिनमें अपनी सांस्कृतिक

एवं नैतिक विशेषताएँ होंगी। इस देन का निर्णय विभिन्न अल्पसंख्यक जातियों के सामाजिक-आर्थिक अथवा धार्मिक-राजनीतिक विभेदों से न होगा। जीवन-प्रणाली, विचार-परिपाटी तथा निर्णय वा परख की शक्ति से उन विशेषताओं का निर्माण होता है, जिनका सम्बन्ध आज हम धार्मिक वर्ग-विशेष से जोड़ते हैं। पर यह आवश्यक नहीं कि ये बातें सत्य ही हों; और वे त्रिकाल के लिए सत्य तो हर्गिज़ नहीं हैं। असम्प्रदायीकरण की क्रिया से ग़लत धारणाएँ तो बदल जायँगी पर उन विशेष वर्गों की देन में कोई अन्तर न आयेगा। वह सब प्रकार के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक-धार्मिक प्रतिबन्धों का अन्त कर देगा। पर वह किसी व्यक्ति या वर्ग को उसकी धार्मिक परम्परा वा जीवन-मान, सांस्कृतिक प्रवृत्ति या जातीय विशेषताओं से रहित न करेगा। प्रतिबन्धों के हट जाने से अधिक पारस्परिक सम्मान का भाव आयेगा। इससे परस्पर अधिक गहरे सहयोग की सृष्टि होगी, फलतः एक दूसरे के प्रति आदर भाव बढ़ेगा। चाहे जो भी देन हो वह राष्ट्रीय रूप में ग्रहण की जायगी। जब हमारे वर्ग एक दूसरे से अलग, एक दूसरे के लिए बंद न होकर सबके लिए खुले होंगे तब छोटी से छोटी देन का प्रभाव भी दूर तक पड़ेगा। अल्पसंख्यक जातियों को इस तथ्य पर ध्यान देना ही चाहिए।

पुरानी कटुताओं को भूल जाओ!

जिस समय भारत आधुनिक युद्धकला के भँवर में खिंचा जा रहा है, आपसी लड़ाई-झगड़े, विद्वेष, ग़लतफ़हमियाँ खतरनाक साबित हो सकती हैं। क्या इन पुराने कर्जों को दूर करने, पुरानी कटुताओं को मिटाने, पुराने गड्ढों को भरने और भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग को एक आदर्श, एक समान स्वतंत्रता और एक समान भविष्य के लिए एकत्र करने का प्रयत्न नहीं किया जायगा? क्या अल्पसंख्यक जातियों को एक ध्येय का अनुभव करने के कार्य में सहायता दी गई है? क्या उनको उस भविष्य की झाँकी कराई गई है, जिसका निर्माण स्वतंत्र भारत में दूसरों

के साथ मिलकर वे करेंगी ? क्या एक स्वतंत्र राज्य की मर्यादा, सुख, उन्नति और भलाई में उनका जो भाग होगा, उसे अनुभव कराने की चेष्टा की गई है ? इस अनुभूति और साधना में अल्पसंख्यक जातियों की सहायता की आवश्यकता आज इसलिए आ पड़ी है कि निर्भय परिस्थितियों, भय तथा कांग्रेस द्वारा शिक्षात्मक प्रचार के अभाव ने उन्हें उससे अलग कर रखा है।

यह समझना चतुर राष्ट्रनीति का अंग है कि किन मनोवैज्ञानिक कारणों, आर्थिक अवस्थाओं तथा अदम्य परिस्थितियों के कारण अल्पसंख्यक जातियों का ऐसा रुख बन गया है। उन्हीं राष्ट्रवादियों का राष्ट्रीय जीवन के विच्छेद का विरोध संगत कहा जा सकता है जो अपनी तरफ़ से असन्तुष्ट दलों को एक करने का भरपूर प्रयत्न भी करते हों।

अदम्य वीर-भाव की आवश्यकता

ऐक्य और समन्वय के इस कार्य में ऐसे अनेक वीरों और वीरांगनाओं की आवश्यकता है जो विरोध से अविचल हों, जो निर्भयतापूर्वक दुर्बलों के पक्ष में खड़े हो सकते हों और जो तथ्य एवं वस्तुस्थिति का सामना करने के लिए पूरी तरह तैयार हों। जब राष्ट्रवादी समन्वयकारी बन जायँगे, हिन्दुस्तान वीरिस्तान—वीरस्थान—हो जायगा। तब हम शत्रु का साहस से मुकाबला कर सकेंगे और अप्रिय कार्यों को भी उसी साहस के साथ पूर्ण करेंगे। तब हम अपने विश्वासों और कार्यों की घोषणा में जितने वीर होंगे, अपने दोषों को स्वीकार करने में भी उतनी ही तत्परता दिखायेंगे। किसी एक ही जाति पर सब ग़लतियाँ और भूलें लाद देना कोई बहादुरी नहीं है। यह बहादुरों का रवैया नहीं है कि हम सदा छोटों और निर्बलों को ही धीरज धरने और शान्त रहने के लिए विवश करें। जब हममें स्वयं अपनी कमज़ोरियों को समझने और महसूस करने का साहस होगा; जब हममें यह सोचने-समझने का साहस होगा कि हमारी आवश्यकता और परीक्षा की घड़ियों में हमारे ही कुछ देशवासी हमारे साथ क्यों नहीं खड़े हुए,

जब हममें नवीन निर्माण करने का साहस पैदा होगा तभी भारत वीरिस्तान—वीरस्थान—या वीरों का देश बन जायगा।

उदाहरणार्थ ऐंग्लोइंडियनों को ले लीजिए। आखिर वैसा व्यवहार वे क्यों करते हैं जैसा कर रहे हैं—अलग-अलग रहना, भारत में घर समझकर न रहना, बल्कि यों रहना मानो वे इस देश में देश-निकाला भोग रहे हैं ? अन्तर्जातीय सम्मिश्रण मनुष्यों के मनोवैज्ञानिक निर्माण में परस्पर-विरोधी विचित्र बातें पैदा कर देता है। वह उनमें अवौद्धिक विद्वेष उत्पन्न कर देता है। शिक्षण द्वारा इन परस्पर-विरोधी बातों एवं विद्वेषों में सुधार किया जा सकता है; किन्तु भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है उससे उलटे इन विद्वेषों को उत्तेजन मिला है और उनमें वृद्धि हुई है और उसने परस्पर-विरोधी बातों को हटाने की कभी कोई चेष्टा नहीं की है। यद्यपि ऐसे बहुतेरे ऐंग्लो इंडियन हैं, जिनकी जिह्वाएँ भारतीय भोजन का स्वाद लेती हैं, लेकिन वे कभी अपने मुख से इसे स्वीकार न करेंगे। सुन्दर परिधान नृत्य ('फैंसी ड्रेस बाल') में बहुतेरी ऐंग्लोइंडियन बालाएँ सुन्दर बनारसी साड़ी से सुसज्जित हो सम्मिलित होंगी और पारितोषिक प्राप्त करेंगी लेकिन वे यह स्वीकार न करेंगी कि उन्हें साड़ी अच्छी लगती है। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि परिस्थितियाँ कुछ ऐसी रही हैं कि उनके द्वारा इस ग़लत दृष्टिकोण के सुधार में कुछ सहायता नहीं मिली है। ज़्यादातर रेलवे और कारखानों की बस्तियों में वे औरों से पृथक पड़ गये हैं। भारतीयों में केवल नौकरों, ताँगेवालों, दूधवालों, डाकियों और विभिन्न अफ़सरों के 'बाबुओं' से उनका सम्पर्क आता है। उस श्रेणी के भारतीयों से उनका मिलना-जुलना नहीं होता जो उनका सम्मान प्राप्त कर सकती, उन्हें आलोक दे सकती और उन्हें प्रभावित कर सकती है। साम्राज्यवाद ने उनके विद्वेष का तो खूब उपयोग किया, परन्तु जातीय मर्यादा में अंग्रेज़ों के साथ उनको बराबरी का स्थान देने से

ऐंग्लोइंडियनों की समस्या

इन्कार किया। इससे वे अपने को अपमानित-सा अनुभव करते हैं। आत्म-सम्मान पर इस चोट की पूर्ति वे अपने को भारतीयों से ऊँचा समझने की चेष्टा द्वारा करना चाहते हैं। नई और तरुण पीढ़ी में से बहुत कम लोग हृदय से अंग्रेज़ों के पक्षपाती हैं। पर उनमें से बहुत कम को यह विश्वास है कि उनके अतीत अहंकार और जातीय भावना, पहले ज़माने की सामाजिक और राजनीतिक ग़लतियों को भारतीयों ने भुला दिया है। उनकी स्थिति त्रिशंकु-जैसी है। वे यह निर्णय करने में असमर्थ हैं कि राष्ट्रीय भारत के साथ अपने भाग्य को बाँध देना उनके लिए लाभदायक होगा या नहीं?

भारतीय ईसाइयों का सवाल

भारतीय ईसाइयों में से अधिकांश को तो आर्थिक कारणों से अपना पृथक्करण करना पड़ा। बहुतेरे तो ऐंग्लोइंडियन समझा जाना ज़्यादा लाभजनक पाते हैं; दूसरे बहुतों को सरकारी और मिशन की नौकरियों में स्थान मिल जाता है। मतलब हर अवस्था में 'सोने के तारों' से उनकी राष्ट्रभक्ति का गला घोंट दिया जाता है। अधिकांश भारतीय ईसाई अपने अन्नदाताओं—मालिकों—को नाराज़ नहीं कर सकते, इसलिए वे ऐसे विचारों और विश्वासों को ग्रहण कर लेते हैं, जिनसे उनके 'मालिक' खुश हों। जहाँ सरकार अपने कर्मचारियों से 'भगवान' सम्राट् की रक्षा करें' वाली वफादारी की उम्मीद रखती है तहाँ ईसाई धर्म-प्रचार-प्रणाली—'मिशन'—ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने की ग़लत धुन में अपने अधिकांश कर्मचारियों को प्रत्येक भारतीय वस्तु में दोष देखने की वृत्ति को उत्तेजना देती है। उनको सिखाया जाता है कि भारत की सम्पूर्ण समस्याओं का एक ही हल है—देश को तेज़ी के साथ ईसाई बना लेना। आर्यसमाज की चढ़ी संगीनों—जैसी प्रतिक्रिया से भी इस बुराई का अन्त नहीं होता। इससे और ज़्यादा जोश फैलता है और सब ईसाइयों में और अधिक असन्तोष पैदा होता है। सब प्रकार के सूक्ष्म साधनों से भारतीय

ईसाई-कार्यकर्ताओं को यह सिखाया जाता है कि ईसाइयों को स्थापित सरकार के प्रति पूर्ण वफ़ादार होना चाहिए। इसके समर्थन में पुराने धार्मिक वचन उद्धृत किये जाते हैं और क्रान्तिकारी धारणाओं को ईसाइयत के प्रतिकूल क़रार दिया जाता है। इस तरह उनमें से अधिकांश तो अपने मुखों पर 'सोने की थुथनी' लगाकर जीवन बिताते हैं। पर इनमें से कुछ विद्रोही भी निकले। सीज़र (सरकार और मिशन) का भक्त बना रहने और उसके आगे कंधे डाल देने की अवस्था में उन्हें जो ऐशोआराम, आर्थिक निश्चिन्तता, सामाजिक सम्मान और प्रसिद्धि प्राप्त होती उन सबका उन्होंने त्याग किया। अपनी नैतिक उच्चता और विचार-स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए ही उन्होंने ग़रीबी, अनिश्चितता और कष्ट का जीवन चुना। उनकी संख्या बहुत कम है, पर वे महत्वपूर्ण हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन लोगों को पादरी 'अहंकारी', 'दूसरों के साथ निभाने के अयोग्य' आदि विशेषणों से पुकारते हैं; शायद इसलिए कि उनमें समझौते के प्रलोभनों के खिलाफ़ आत्मा की दृढ़ता के लिए आवश्यक आत्म-प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व का तेज था। उनमें से सम्पूर्ण भारतीयों द्वारा सम्मानित कुछ नाम ये हैं :—माइकेल मधुसूदन दत्त, एस० के० रुद्रा, जे० सी० कुमारप्पा, एस० के० ज्यार्ज, ज्यार्ज जोज़ेफ़, राजकुमारी अमृत कुँअरि और डी० एस० रामचन्द्र राव। उन्होंने अनुभव किया है और अधिकांश ने असंदिग्ध शब्दों में घोषणा भी की है कि ईसा का धर्म न्याय, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की घोषणा का धर्म है; वह भूमध्यसागर वा अतलान्त सागर के पार रहनेवाले शोषकों, तानाशाहों और कानून-निर्माताओं की सहायता करनेवाला घोषणा-पत्र नहीं है। उन्होंने अपने सहधर्मियों से यही प्रार्थना की है कि जहाँ कहीं भी और जब भी उन्हें समाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अनीति, जातीय प्रभुत्व या श्रेणी-भेद दिखाई दें, उनसे लड़ना और उनका अन्त कर देना उनका धर्म है। अनुभव और गंभीर विचार के पश्चात् वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि विदेशी पूँजी का दूर बैठे हुए व्यवस्था करने

की रीति ही मिशनरी प्रणाली के दोषों का मूल कारण है। उन्होंने इस प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने और नियंत्रण भारतीयों के हाथ में दे देने की ज़ोरदार माँग की है। उनको इन सब माँगों का उत्तर उन्हें चर्च-राज्य से बहिष्कृत किये जाने के रूप में प्राप्त हुआ है। यदि भारत स्वतंत्र होता तो वे सरकारी 'जी हुजूर' ईसाई, नहीं बल्कि ये ही थोड़े से भारतीय ईसाई, जिन्होंने अपनी धारणाओं और सिद्धान्तों के लिए कष्ट सहा है, भारतीय चर्च के गौरव होते। पर मिशनरी मशीन बिना पश्चात्ताप किये, बिना इस पर ध्यान दिये चले ही जा रही है। क्या वह अधिक दिनों तक चल सकेगी?

और अगर स्वतंत्र भारत में मिशनरियों का ईसाई धर्म न ठहर सके तो क्या भारत को दोष दिया जा सकता है? उस समय तो आवेश में पादरियों, उनके विदेशी समर्थकों और बहुतेरे भारतीय विभेद के मुख में ईसाइयों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह होगी कि भारतीय अकृतज्ञ, कट्टर और प्रतिहिंसापूर्ण घृणा के प्रचारक हैं। पर क्या वह आरोप सत्य होगा? जब हम सोचते हैं कि किस प्रकार शताब्दियों से भारत ने ईसाई-धर्म को आश्रय दिया है, कैसे भारतीयों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विदेशी धर्म-प्रचारकों के अभद्रतापूर्ण व्यवहारों को सहन किया है; किस प्रकार अनेकानेक मिशनरियों ने विदेशों में धर्म-प्रचार के हेतु चन्दा एकत्र करने के लिए भारत की खिल्ली उड़ाई है और उसके सम्बन्ध में गलत प्रचार किया है; कैसे भारत में ईसाई-धर्म को साम्राज्यवाद के अस्त्र और साधन रूप में इस्तेमाल किया गया है; और किस प्रकार मिशन ने उन विदेशी धर्म-प्रचारकों और राष्ट्रीय ईसाइयों का उत्पीड़न और दमन किया है, जिन्होंने भारत के लिए स्वतंत्रता, न्याय और समानता की माँग की; कैसे पूँजी के विदेशी नियंत्रण ने भारत के प्रत्येक भाग में भारतीय ईसाइयों को नीति-भ्रष्ट कर दिया है, तब यदि स्वतंत्र भारत में भारतीय ऐसी बातें पुनः न होने देने के लिए आवाज़ उठायें तो उन्हें दोष कैसे दिया जा सकता है? क्या ब्रिटेन और अमेरिका ऐसी ही स्थिति में

कुछ दूसरा व्यवहार करते ? यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि अपने वैदेशिक धर्मवाद तथा विदेशी भावनाओं से मिशन ने अपने ही किये अच्छे कार्यों पर कालिख फेर दी है और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का गुप्त सहायक बन गया है।

बहरहाल-ज़्यादातर भारतीय बहुत उदार होते हैं और कृपा के छोटे से छोटे कार्यों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकाश करते हैं; संघर्ष और युद्ध के बीच भी दार्शनिक वृत्ति धारण करना उनका स्वभाव है।

ईसाइयों का भविष्य

इसलिए शायद स्वतंत्र भारत के व्यवहार में न्याय के साथ दया की भी आशा रखी जा सकती है और इसीलिए शायद मिशनरी आन्दोलन के पापों का बदला भारतीय चर्च के पुत्रों—इसाइयों—से, तीसरी चौथी पीढ़ी तक, न लिया जाय। पर यदि भारतीय चर्च नाम की कोई वस्तु है तो उसके हित में यही अच्छा होगा कि वह मिशन के धन और मिशनरी संरक्षण के अफीमी—नशे के—वतावरण से बाहर आकर ईसाई-धर्म के शाश्वत तत्वों—स्वतंत्रता, न्याय और भ्रातृत्व—के पक्ष में स्पष्ट रूप से खड़ा हो। भारतीय ईसाइयों को, एक समाज और समूह के रूप में अब भी, जब दिन है, अपना रवैया बदल कर काम करना चाहिए; रात आवेगी तो फिर कोई काम करना संभव न होगा। यह अनुभव करनें के लिए ,अब भी थोड़ा समय है कि अवसर-वादिता का धर्म ईसाइयों और भारतीयों के लिए अयोग्य है। सत्य ही सर्वोच्च धर्म है और अन्त में केवल सत्य की ही विजय होती है।

पारसियों ने भारत को दादाभाई नौरोज़ी, दिनशावाचा और फीरोज़-शाह मेहता का दान किया है। ये तीनों भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष हुए और तीनों ने भारतीय राष्ट्रीयता का ज़ोरों के साथ

अवसर-वादिता नहीं, सत्य ही योग्य धर्म है

और स्पष्ट रूप में समर्थन किया। पर आश्चर्य है कि उनके मतानुयायियों में से बहुत अधिक ने उनकी पुकार अनसुनी कर दी। दूसरी अल्पसंख्यक जातियों की भाँति,

जाति रूप में पारसी समाज राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेने से घबड़ाता रहा है। सांस्कृतिक रूप से, ऐंग्लोइंडियनों के विपरीत, उन्होंने भारत को अपना घर मान लिया है; गुजराती को अपनी मातृभाषा के रूप में अंगीकार किया है; अपने घरेलू और सामाजिक जीवन में वे हिन्दू आचार और रीति का ही व्यवहार करते हैं। कदाचित् पारसियों की राष्ट्रीय भावना की सुषुप्ति का कारण यह है कि उनमें से बहुतेरे आर्थिक रूप से साम्राज्यवादी ढाँचे के अंग बन गये हैं। वे दूसरे वर्गों के पूँजीवादियों की भाँति हैं। अधिकतर पूँजीवादियों की ही जाति होने के कारण पारसी बड़े नामवर हो गये हैं। उनकी उत्तम आर्थिक स्थिति का प्रभाव उनके रहन-सहन पर भी पड़ा है। उनके और उनके अन्य अधिकांश देशवासियों के बीच एक गहरी खाई पड़ गई है। उनके अन्दर जो विरोधाभास होता है, उसका कारण भी यही है कि यद्यपि सांस्कृतिक रूप से वे भारतीय बन गये हैं, अपनी विशिष्ट सामाजिक महत्वाकांक्षाओं के कारण उन्हें पाश्चात्य ढंग अपनाना पड़ा है।

पारसियों का सवाल

जिन प्रमुख कारणों ने अल्पसंख्यक जातियों के जीवन का वर्तमान रूप में निर्माण किया है, उनको स्पष्ट रूप से समझ लेने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन स्थितियों से उनका जीवन शासित है उनमें परिवर्तन कर हम उनके रुख और ढंग को भी बदल सकते हैं। इससे हम यह भी देख सकते हैं कि वे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की पात्री हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सोचने की बात है कि प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग में आज ऐसे अनेक जन हैं जो अपनी जाति के अतीत के कारनामों से असन्तुष्ट हैं। हो सकता है कि वे स्पष्ट रूप में सामने न आये हों, पर वे अपने हृदय गंभीरता के साथ टटोल रहे हैं। अभी वे नेता भले ही न हों पर वे आज भी अस्पष्ट रूप से पुनर्निर्माण के बारे में सोच रहे हैं। राष्ट्रवादियों को जल्दबाज़ी में उन्हें दूर न हटा देना चाहिए। राष्ट्रीय सहजीवन और

सङ्गठन के कार्य में उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उन्हें राष्ट्रीयता और राष्ट्रभक्ति का वास्तविक अर्थ समझने को प्रोत्साहित करना चाहिए। उनके द्वारा उनकी जातियों वा वर्गों को असम्प्रदायीकरण की ओर अग्रसर करना होगा। उनके द्वारा ही उनकी जातियों को यह बतलाने की ज़रूरत है कि खण्ड या संकुचित रूप में अपने हितों पर ज़ोर देना क्योंकर ग़लत है। इन्हीं व्यक्तियों-द्वारा हमें उनकी जाति और सम्प्रदाय की उन जटिलताओं और मनोवैज्ञानिक सन्देहों को दूर करना होगा जो उनके लिए भी उतने ही दुःखदायी हैं जितना हमारे लिए, झुँझलाहट और ग़ुस्सा पैदा करनेवाले हैं।

इन अल्पसंख्यक जातियों का विश्वास प्राप्त करने के लिए काँग्रेस को उस सीमा से आगे जाना होगा जो आवश्यक या अवसरानुकूल समझी जाती है। पर आवश्यक या अवसरानुकूल सीमा के बाहर की यही अतिरिक्त शालीनता वा उदारता है जो हमारे कृत्यों एवं व्यवहारों को 'सुन्दर' बनाती है। भारतीय ईसाइयों की कौंसिल के अध्यक्ष का वह अनुरोध जो उन्होंने ब्रिटिश सरकार से भारत के प्रति 'सुन्दर व्यवहार' करने के सम्बन्ध में किया है और जो इस अध्याय के आरंभ में दिया गया है, उस समय बहुसंख्यक जाति-द्वारा अल्पसंख्यक जातियों के प्रति किये जानेवाले व्यवहार के विषय में भी लागू होगा जब विजयी भारत अपने भविष्य का निर्धारण करने लगेगा और जब तिरंगा झंडा आकाश में सिर उठाये हुए घोषणा करेगा—"सब के लिए स्वतंत्रता और सब स्वतंत्रता के लिए।"

सबके लिए स्वतंत्रता और सब स्वतंत्रता के लिए

—:०:—

[६]

वतन—स्वदेश

लँगड़ी दौड़

पिछले २५ सालों से भारत में एक अजीब 'लँगड़ी दौड़',* की होड़ लगी है। ब्रिटेन के अनुभवी राजनीतिक होमियोपैथ डाक्टरों ने सिफ़ारिश की कि साम्प्रदायिकता से ही साम्प्रदायिकता का रोग दूर होगा। जिस समय साम्प्रदायिक संस्थाओं के द्वारा इस औषधि का प्रयोग किया जा रहा था, कदाचित् जनता का ध्यान हटाने के लिए नौकरशाही ने लँगड़ी दौड़ वाली प्रतियोगिता शुरू कर दी। कुछ राष्ट्रीय संस्थाओं ने भी उसमें भाग लिया,—विरुद्ध दिशा में जाने के लिए। साम्प्रदायिकता की भयानक व्याधि के लिए चिकित्सा भी कठोर होनी चाहिए थी। बहुत से समझदार लोग यह जानते थे। बहुतों ने इसके लिए दबी ज़बान—घुटी साँस—से आवाज़ भी उठाई पर उनमें राजा जी-जैसा अदम्य संकल्प वाला कोई न था जो कीचड़ उछालने वालों का हँस कर सामना करता और कठोर चिकित्सा आरंभ करने के लिए अविचल रूप से लोगों की गालियाँ बरदाश्त करता। जो धार्मिक प्रवृत्ति के थे वे किसी दैवी हस्तक्षेप के इन्तज़ार में थे; जो समाजवाद की

---

* प्रशा में सैनिकों को दण्ड देने का एक ढंग यह था कि उनकी एक टाँग पीछे बाँध दी जाती थी और एक ही टाँग से दौड़ाया जाता था।

ओर झुके हुए थे वे सब भारतीय बुराइयों की दवा रूसी प्रयोग में ही खोजते थे।

परन्तु किसी में उठकर राष्ट्र के प्रति इस बात की घोषणा करने का साहस न दिखाई पड़ा कि भारत प्रत्येक ऐसे भारतीय, नहीं मनुष्य, का घर है जो उसकी सीमा में रहता है और उसे प्यार करता है।

स्पष्ट घोषणा का अभाव

भारत केवल एक 'स्तान'—स्थान, जगह—नहीं है। यह सिर्फ़ हिन्दुस्तान—सिन्धु का देश—या पाकिस्तान—पवित्रों का देश नहीं है। यह हमारा वतन है, हमारा स्वदेश है, हमारी मातृभूमि है। यह वह स्थान है, जहाँ हमारे पूर्वज रहे, जिये-मरे, जहाँ उन्होंने पसीना बहाया, स्वप्न देखा, लड़े और मरे ताकि उनके बच्चे स्वतंत्र और सुखी हों। यह वह स्थान है जहाँ हमारे पूर्वज़ों ने अनेक शताब्दियों तक धरती को जोता, सुन्दर वस्त्र बुने और सोने-चाँदी के कलापूर्ण अलंकारों का निर्माण किया; प्रेम किया और प्रेम के भावावेश में गान गाये; संगमर्मर में ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि की जो काल और मृत्यु का उपहास करता है; गहन वनों को आत्मा और ब्रह्म की महती खोज की स्मृतियों से पूर्ण किया; अपने संगीत के जादू से अन्धकार में प्रकाश-दीप जलाये और सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के मरणातीत स्वप्न देखे। भारत की एक-एक कण भूमि हमारे लिए प्यारी है। चप्पे-चप्पे ज़मीन का अपना इतिहास है। प्रत्येक पहाड़ एक सन्तरी है जो किसी रहस्य, गोपनीय वस्तु, की रक्षा में मग्न है। प्रत्येक नदी, अपने कलेजे में कोई स्मृति छिपाये हुए है। और यह इतिहास, ये रहस्य और ये स्मृतियाँ हम सबको भारतीय के रूप में, भाई-भाई के रूप में, उन आदमियों के रूप में एकत्र किये हुए हैं जिनके अन्दर एक ही खून बह रहा है। जिनका एक ही घर है, एक ही अतीत है, जो एक ही वर्तमान से गुज़र रहे हैं और जिनका भविष्य—जिनका भाग्य—भी एक है। कब साम्प्रदायिक समूहों को यह ज्ञान होगा कि भारत केवल हमारा देश ही नहीं है, वह हमारा घर भी है।

अन्तर्साम्प्रदायिक ऐक्य की अपनी-अपनी चिकित्सा में हिन्दू महासभा, मुस्लिमलीग, गांधीवादी कांग्रेसी, कांग्रेस समाजवादी और साम्राज्यवादी सब प्रायः एक ही बिन्दु—स्थान—पर लड़खड़ा गये हैं। प्रत्येक ने इस समस्या के अन्य तीन पहलुओं पर ध्यान न देकर केवल उसके एक ही पहलू पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। महासभा और लीग ने सवाल के धार्मिक पहलू पर ही ग़ौर किया है और धर्मान्धता के साथ हिन्दूराज, या पाकिस्तान की माँग की है। गांधीवादी कांग्रेसियों ने अपना ध्यान इस सवाल के राजनीतिक पहलू पर ही केन्द्रीभूत किया है और विधान-समिति द्वारा निर्धारित बहुमत-प्रधान शासन पर ज़ोर दिया है। कांग्रेस समाजवादी और उनके दूर-दूर के रिश्ते के चचेरे-फुफेरे-ममेरे भाइयों ने केवल आर्थिक पहलू पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और 'वर्गहीन समाज' की स्थापना को ही सब रोगों की दवा बताई है। साम्राज्यवादी इस समस्या के सामाजिक पहलू में ही लिप्त रहकर खुश रहे और उन्होंने विभिन्न सामाजिक धार्मिक घटकों या इकाइयों के लिए साम्प्रदायिक निर्णय के रूप में खूब गढ़बन्दी की।

एकांगी विचार-विधि

साम्प्रदायिक एकता के अनेक भक्त अपनी जड़-विचार-विधि के कारण समस्या की सही पकड़ में असफल रहते हैं। वे इस समस्या का इलाज अन्तर्साम्प्रदायिक की अपेक्षा साम्प्रदायिक रूप में करने की चेष्टा करते हैं। उनके क्षितिज बहुत संकुचित हो गये हैं। उन्होंने प्रतिद्वन्द्वी जाति को केवल विनाशकारी विरोधी रूप में देखा है। एक कान से उन्होंने विवेक की आवाज़ सुनी, पर दूसरा कान बेहूदे साम्प्रदायिक प्रचार से भरा रहा। उन्होंने एक आँख तो साम्प्रदायिक एकता के आदर्श पर गड़ा रखी, पर दूसरी आँख अपने ही साम्प्रदायिक अधिकारों, स्वार्थों एवं अनिश्चितता पर लगाये रहे। अपनी अपनी जाति और सम्प्रदाय की हित-रक्षा में उनका ध्यान बँट गया। एक ही उछाल में उन्होंने सब बाधाओं को दूर कर देना चाहा। उन्होंने आदर्शवादी सहिष्णुता का उपदेश किया पर राजनीति

के कठोर प्रत्यक्षवाद की जलवायु में आदर्श और सहिष्णुता के पनपने की बहुत कम संभावना थी।

इसकी जगह यदि इसे अन्तर्साम्प्रदायिक सहगठन एवं सहजीवन की समस्या के रूप में ग्रहण किया जाय—जैसी वस्तुतः वह है—तो सहन-
शील निष्क्रियता की जगह हमें एक दूसरे के मानस से
साम्प्रदायिक नेताओं पारस्परिक सन्देह, द्वेष एवं ग़लतफ़हमी दूर करने की
की चालाकी चेष्टा करनी होगी। हमारा विचाराकाश मानवी
परस्परावलम्बन और अन्तर्क्रिया की समस्त राष्ट्रीय
दृश्यावली से पूरित रहता है इसलिए कभी-कभी संघर्ष हो जाना स्वाभाविक है। हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि छोटी और गरीब जातियों के लिए यह अन्तर्निर्भरता सहज ही असुविधाजनक हो सकती है क्योंकि आवश्यकता एवं परिस्थिति वश बड़ी एवं समृद्ध जातियों की अपेक्षा उन्हें दूसरों पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि छोटी जातियों का धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन अपेक्षाकृत बड़ी जातियों की दया पर निर्भर करेगा, और इन बड़ी जातियों का जीवन सबसे बड़ी जाति की दया पर निर्भर होगा। अगर यह मामला इसी रूप में रहने दिया गया तो इससे अल्पसंख्यक जातियों में एक अस्वास्थ्यकर लघुता का भाव पैदा होगा जो सन्देह, अविश्वास, असन्तोष, दुर्भावना और घृणा के सैकड़ों फोड़ों के रूप में फूट निकलेगा। साम्प्रदायिक नेता, यदि वह व्यवहारकुशल है और उसे अपनी जाति को स्वयंपूर्णता की योजना पर चलाने के साधन भी प्राप्त हैं, बहुत जल्द लोकप्रियता प्राप्त कर लेता है। उसके दोनों हाथ लड्डू हैं। यदि योजना सफल होती है तो उसका श्रेय उसे मिलता है, उसका जय-जयकार होता है। यदि वह असफल हुई तो समस्त दोष प्रतिद्वंद्वी जाति पर डाल दिया जाता है। दोनों हालतों में वह विभिन्न सम्प्रदायों को निकट लाने की जगह उनके बीच की खाई और गहरी कर देता है।

इस प्रकार सब के विषय में सामान्य निष्कर्ष निकाल लेना अतिरंजना-पूर्ण मालूम हो सकता है, किन्तु वह बार-बार किये जानेवाले परिवर्तनों वा संशोधनों से उत्पन्न दृष्टिभ्रम या ग़लतफ़हमी से समस्या के विश्लेषण को मुक्त रखने के लिए है। यह सच है कि समस्त देश की सभी अल्पसंख्यक जातियों में परस्परावलम्बन से लघुता का भाव नहीं पैदा होता। पहले यह बताया जा चुका है कि यद्यपि जातिप्रणाली की असंगतियाँ ही सम्प्रदायों के जन्म और स्थायीकरण के लिए मुख्यतः उत्तरदायी हैं, फिर भी इनके होते हुए भी, संस्कृति, भाषा, जाति और समाज के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकीकरण की जो धारा बही है उसने अनजाने ही जातिगत प्रतिबन्धों को शिथिल कर दिया है। इसलिए यह सत्य है कि साम्प्रदायिक वर्गों को उपर्युक्त परस्परावलम्बन के दुष्ट निष्कर्षों से परिचित करने के लिए राजनीतिक प्रचार की आवश्यकता होती है। यह प्रचार शहरों में अधिक आसानी से हो सकता है क्योंकि नगरों में गाँवों की अपेक्षा संघटित राजनीतिक कार्यों के लिए अधिक गुंजाइश होती है। इसीलिए गाँवों की अपेक्षा नगरों में दशहरा वा मुहर्रम के अवसर पर झगड़ा करा देना अधिक सरल होता है।

राष्ट्रीय एकीकरण की धारा

मनोविश्लेषण-सम्बन्धी आधुनिक खोजों से पता चलता है कि लघुता की भावना तभी दूर की जा सकती है जब रोगी में आत्म-विश्वास या क्रियाशील आत्मानुभव जाग्रत हो। यदि यह बात व्यक्तियों और वर्गों दोनों के लिए समान रूप से ठीक है, जैसा कि विवेचन और दर्शन से मालूम भी होता है, तब हमें अन्तर्साम्प्रदायिक सामञ्जस्य की जटिल समस्या की एक विश्वसनीय कुंजी प्राप्त हो जाती है। क्या कोई ऐसा रास्ता नहीं है जिससे समूहों और वर्गों को यह आत्मविश्वास प्राप्त हो? यह कहकर कि कांग्रेस इस लोक और परलोक के हर आदमी का प्रतिनिधित्व करती है, उन्हें धार्मिक रूप से अलग छोड़ देने से यह कार्य नहीं

हो सकता। यह वैधानिक संरक्षण देने के लचकदार आश्वासनों से भी नहीं हल किया जा सकता—उन आश्वासनों और वादों से जो उतनी ही जल्द भुला दिये जाते हैं जिस शीघ्रता से किये जाते हैं। फरियादी अल्प-संख्यक जातियों की कथित शिकायतों को निराधार सिद्ध कर देने से भी यह नहीं हो सकता, और न सारा दोष ब्रिटिश सरकार पर डाल देने से ऐसा हो सकता है—फिर चाहे उसका आचरण कितना ही घृणित और तिरस्क-रणीय रहा हो। ये चारो प्रयत्न किये जा चुके हैं और बुरी तरह असफल सिद्ध हो चुके हैं। वास्तव में वे असफल ही होने योग्य थे। वे निशाने की ओर केन्द्रित ही न थे; उससे दूर थे।

लघुता की भावना की प्रतिक्रिया

कभी-कभी, जैसा कि खुद हमने अपने ही ज़माने में देखा है, किसी जाति से लघुता की भावना दूर करने के लिए भयंकर रूप से निष्ठुर साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। क़ैसर के पतन और १६१४-१८ के युद्ध में जर्मनी की पराजय के पश्चात् जर्मन जाति में जो सब कुछ पंगु कर देने वाली लघुता की भावना फैल गई थी उससे जर्मनों को मुक्त करने के लिए नात्सियों को 'जाति प्रभुत्व' की गाथा गढ़नी पड़ी, अमानुषिक क्रूरताओं के कृत्य करने पड़े और घृणा तथा प्रतिहिंसा की एक अन्धकट्टरतापूर्ण विचार-धारा का प्रचार करना पड़ा। सौभाग्य-वश अभी हमारे पास इतना समय है कि ऐसे हिंसापूर्ण उपायों का आश्रय लिये बिना ही समस्या को हल करने का प्रयत्न करें। किन्तु यदि अब भी भय की इस व्याधि को बढ़ने से रोकने के लिए कुछ प्रयत्न न किया गया तो कदाचित् हमारे देश की अल्पसंख्यक जातियों को भी नैराश्यपूर्ण परिस्थि-तियों से ऊबकर जान पर खेलने के साधनों का सहारा लेना पड़े। उस समय किसी अल्पसंख्यक जाति को दोष देना वैसा ही होगा जैसा उस मकान के वर्षा में गिरने का दोष मकान पर लादने में होता है जिसे हमने समय रहते ठीक न कराया, जिसकी दरारों और छिद्रों की ओर हमने

समय पर ध्यान नहीं दिया, जिसकी मरम्मत हमने वक्त रहते नहीं कराई और यों उसे गिरने से नहीं रोका। एक जीर्ण मकान, जिसकी कोई देख-रेख या परवा न की जाय, धराशायी होगा ही। अगर अल्पसंख्यक जातियों का प्रश्न हल करने की हमने पूरी कोशिश नहीं की तो वे निराश होकर प्रमादपूर्ण साधनों का सहारा लेंगी ही। आइए, हम समय रहते सावधान हो जायँ।

यदि हम वास्तव में साम्प्रदायिक समस्या को हल करना चाहते हैं तो हमें एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध कार्यक्रम को साहसपूर्वक कार्यान्वित करने में लग जाना चाहिए। हमारी राष्ट्रीय संस्थाओं पर ही

त्रिविध साधन

ऐसे कार्यक्रम को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी है। यह कार्य एक ही विचार और लक्ष्य से प्रेरित होना चाहिए और वह लक्ष्य यह है कि पिछले बारह या अधिक शताब्दियों से साम्प्रदायिक एवं जातीय गुम्फन और ऐक्य की जो ऐतिहासिक-धारा चली आ रही है उसके मार्ग को और प्रशस्त कर दें। मोटे तौर पर उसके तीन अंग होंगे: तैयारी, सम्मिलन और रक्षण।

तैयारी वाले पहलू में सब प्रकार की खोज और शिक्षा का कार्य शामिल है। मान्य बौद्धिक ईमानदारी रखने वाले ऐसे विख्यात विद्वानों को, जो दलगत पक्षपातों, विद्वेषों से परे हों, अपने-अपने

तैयारी

क्षेत्र या विषय में जातीय मिश्रण, धार्मिक समन्वय, भाषागत सहयोग, सांस्कृतिक सामञ्जस्य और सबके ऊपर आर्थिक परम्परावलम्बन-सम्बन्धी प्रश्नों पर विस्तृत खोज करने के कार्य में लगाना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त में वर्तमान अन्तर्साम्प्रदायिक सम्बन्धों, सामाजिक आदान-प्रदान और सामाजिक-आर्थिक अन्तर्क्रियाओं के सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानकारी और आँकड़े उपस्थित करने के लिए इस प्रकार के अनुभवी और विश्वसनीय विद्वानों को नियुक्त किया जाना चाहिए। विशाल ग्रामीण क्षेत्रों के सम्बन्ध में खास तौर से इस प्रकार की जाँच

होनी चाहिए क्योंकि उनमें अभी साम्प्रदायिकता का विष बहुत अधिक नहीं फैला है। साम्प्रदायिक संघर्ष के उद्‌भव और विकास, उसके मूल कारणों एवं वास्तविक संरक्षकों के सम्बन्ध में विस्तृत निष्पक्ष अध्ययन के लिए विशेषज्ञ इतिहासकारों की एक छोटी समिति, जिसमें सब वर्गों के प्रतिनिधि हों, बैठानी चाहिए। यदि इस कार्य के लिए उपयुक्त विद्वान स्त्री-पुरुषों को पर्याप्त संख्या में प्राप्त और नियुक्त किया जा सके और इसके लिए आवश्यक आर्थिक सुविधाएँ भी उपलब्ध हों तो इस प्रारंभिक छानबीन में बहुत ज़्यादा समय न लगेगा।

इसके द्वारा हमारे पास एक अमूल्य और आश्चर्यजनक रूप से विश्वासप्रद सामग्री का ढेर लग जायगा जिसे केवल जनता तक पहुँचाने का कार्य ही बाकी रह जायगा। साप्ताहिक बाज़ारों, मेलों तथा विशेष रूप से बुलाई गई सभाओं में इस सामग्री के अनुसार जानकारी का प्रसार किया जा सकता है। ऐसा नगरों और ग्रामों दोनों में हो सकता है। सामूहिक शिक्षण के लिए प्रभावपूर्ण ढंग पर जादुई लालटेनों (मैजिक लैंटर्न) और सिनेमा फिल्मों का उपयोग किया जा सकता है। जो साक्षर हैं उनके लिए देश की प्रत्येक भाषा में मनोरंजक विवरण और पुस्तिकाएँ तैयार कराई जा सकती हैं। स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार इस सामग्री के वितरण और प्रसार की अनेक विधियाँ सुझाई जा सकती हैं। लेखक गण इस सामग्री का उपयोग कहानियाँ और कविताएँ लिखने में कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्रकार और कलाकार चित्रों, पोस्टरों तथा डिज़ाइनों में इसका उपयोग कर सकते हैं। समय पाकर अन्तर्साम्प्रदायिक सामञ्जस्य और सद्‌भावना व्यक्त करने वाले संगीत और गाथाओं का भी उद्‌भव एवं विकास होगा; गीत और कहानियाँ बनेंगी।

ऐसी ही ज्ञान की बाढ़ विद्वेष, सन्देह और भय को धो बहायेगी। वह ऐसी अनेक दीवारों को गिरा देगी जो अविवेक-वश मनुष्य से मनुष्य को अलग किये हुए हैं। वह करोड़ों को मानवीय सम्बन्धों को एक नये और

अधिक सत्य प्रकाश में देखने का अवसर देगी और इस बात को समझने पर बाध्य करेगी कि अनैक्य—फूट—अप्राकृतिक, निरर्थक और आत्म-विनाशक है। वह क्रान्तिकारी भावों से भरे मनुष्यों के हृदय में उनके विचारों को और पुष्ट कर देगी और जो लोग अब भी प्रारंभिक उग्रवादिता और अस्पष्ट कट्टरता के बीच झूल रहे हैं उनमें क्रान्तिकारी मनोरचना को जन्म देगी। वह असंख्य युवकों के लिए अन्तर्जातीय एवं अन्तर्साम्प्रदायिक भ्रातृत्व का मार्ग साफ़ करेगी और प्रगति में रोड़े अटकाने वालों के रास्ते में प्रबल रुकावटें तथा बाधाएँ खड़ी कर देगी। यह दक़ियानूसी आक्षेपों की धार—तीव्रता—कुन्द कर देगी और विघटनकारियों द्वारा प्रचारित गाथाओं को फलने-फूलने का अवसर न देगी।

कार्यक्रम के सम्मिलन वाले पहलू के अन्तर्गत वे सभी काय आवेंगे जो सभी सम्प्रदायों तथा जातियों के आदमियों—विशेषतः हिन्दुओं और मुसलमानों—को सुचिन्तित योजनाओं को एक साथ मिलकर करने का मौका देंगे। इन योजनाओं को निर्धारित करने में काफ़ी सावधानी से काम लेना पड़ेगा ताकि वे उनमें भाग लेने वाले सभी आदमियों के लिए लाभदायक हों। उदाहरणार्थ सामूहिक या सहकारी कृषि, कताई-बुनाई, मधुमक्खी-पालन, मछली का धन्धा इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं जो एक साथ काम करने और अपने श्रम का फल एक साथ चखने के लिए प्रतिनिधि अन्तर्साम्प्रदायिक वर्गों को उपयुक्त अवसर प्रदान करते हैं। अन्य बहुतेरे दलों को सहायक ग्रामीण धन्धे इस काम के लिए आकर्षक सिद्ध होंगे। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिए भिन्न-भिन्न उद्योग उपयुक्त होंगे। किसी क्षेत्र या वर्ग पर कोई योजना ऊपर से लादी नहीं जायगी। ये योजनाएँ ऐसी हों कि जिनके लिए बनाई जायँ उन्हें आकर्षित करें और उन्हें लाभदायक और कल्याणकर प्रतीत हों; वे ऐसी न हों कि उन पर एक बोझ-सी केवल दिखावे के लिए हों। यदि ऐसी ही चीज़ों का उत्पादन हो जिनकी आम तौर

सम्मिलन

से माँग है तो ये वस्तुएँ खरे सिक्के के बराबर ही होंगी। इस तरह धन का अधिक से अधिक वितरण संभव होगा और सहकारी श्रमिकों में धन का वितरण जितना ही अच्छा और अधिक होगा उतना ही कार्यक्रम अधिक सफल समझा जायगा।

प्रवचन के लोभ का संवरण

एकता की सुविधाओं पर प्रवचन करने के प्रलोभन को सख्ती के साथ बन्द कर देना चाहिए। सहयोगियों को स्वयं एकता के लाभ का अनुभव करने देना चाहिए। सहकारी उद्योगों का उन लोगों पर एक अज्ञात प्रभाव पड़ेगा जो उसमें साथ-साथ काम करेंगे और भाग लेंगे; वे एक भ्रातृत्व के बन्धन में बँध जायँगे। तब वे अनुभव करना आरंभ करेंगे कि जाति और सम्प्रदाय के बन्धन उनकी समृद्धि में बाधक होते हैं। तब वे ठोस रूप में सीखेंगे और अनुभव करेंगे कि व्यक्ति और वर्ग दोनों के लिए पारस्परिक सहयोग ही सुरक्षितता और निश्चिन्तता का सर्वोत्तम साधन है। एक पेशे या उद्योग में साथ-साथ काम करने वालों को एक ही बस्ती में रहने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि भारत के प्रत्येक गाँव में एक-एक ऐसी बस्ती बसाई जाय तो समस्त देश में लगभग सात लाख ऐसी बस्तियाँ हो जायँगी जिनमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और जातियों के लोग साथ-साथ रहेंगे और अपने दैनिक जीवन तथा कार्यक्रम-द्वारा असम्प्रदायीकरण के सन्देश का प्रसार करेंगे। ऐसे ढेर के ढेर असंदिग्ध गवाहों के सामने (क्योंकि उस समय हर बस्ती एक संजीव गवाह होगी) विघटनकारियों का प्रचार उन्हीं के गले में अटक कर उनके लिए दम घोटने वाला सिद्ध होगा।

पृथ्वी से स्वर्ग तक की सीढ़ी

ज्ञान का पहला अंग (तैयारी), इन असंख्य प्रयोगशालाओं की स्थापना के ओर, जिनमें लोग सहयोगी कार्य एवं प्रयोग द्वारा प्रचारित एवं प्राप्त ज्ञान के वास्तविक फल की परीक्षा कर सकें, व्यर्थ ही होगा। इस सम्मिलन वा सहयोग को सफल बनाने के लिए कुछ भी न उठा रखना चाहिए—कोई

भी त्याग और बलिदान इस काम के लिए कम है। हमने ऐसी आख्यायिकाएँ बहुत सुनी हैं कि स्वर्ग से पृथ्वी पर एक सीढ़ी लटकाई जायगी जिससे उतर कर देवदूत पृथ्वी पर आयेंगे और मानव जाति का उद्धार करेंगे। किन्तु मनुष्य जाति को आज तक लूट, शोषण, ऊँच नीच भेद भाव, मतलब विडम्बना और प्रवञ्चना का ही अनुभव हुआ है। अब समय आ गया है कि देशभक्त गण मिल कर पृथ्वी से स्वर्ग तक ऐसी सीढ़ी लगायें ताकि भारत के चालीस करोड़ जन इस सीढ़ी के सहारे स्वर्ग तक पहुँच सकें—उस स्वर्ग तक जो भय, अज्ञान, अनीति और हिंसा के परे है।

रक्षण

रक्षण वाले पहलू के अन्तर्गत अनिवार्य नैतिक सेवा और प्रभाव-क्षेत्रों का विस्तार आता है। जैसे जैसे सृजनात्मक ऐक्य की इन बस्तियों में बसने वालों की यह निष्ठा दृढ़ होती जायगी कि अन्योन्याश्रय या परस्परावलम्बन का अर्थ बेबसी की निर्भरता नहीं है बल्कि बराबर वालों के बीच का सहकारी आदान-प्रदान है त्यों-त्यों उस भय के स्थान पर जिसके कारण अल्पसंख्यक जातियां अभी तक अविश्वास-पूर्ण बनी रही हैं, एक नूतन आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा होती जायगी। आत्मविश्वास के पनपने और विकसित होने से सहकारी जीवन का मानदण्ड ऊँचा होगा। तब साम्प्रदायिकता की पतनशील और उलटी प्रवृत्तियों के विरुद्ध इन बस्तियों में बसनेवालों की क्रियात्मक और नैतिक सहायता प्राप्त करने में कोई कठिनाई न होगी। यदि ऐसी प्रत्येक बस्ती में दस कुटुम्ब (स्त्री-पुरुष) भी हुए तो केवल ग्रामीण भारत से सत्तर लाख पुरुषों और सत्तर लाख स्त्रियों की विशाल सेना खड़ी हो जायगी। यदि इस प्रकार विभिन्न जातियों के एक करोड़ चालीस लाख ऐसे स्त्री-पुरुष तैयार होगये जिनकी निष्ठा हो कि साम्प्रदायिक और जातिगत दीवारों का तोड़ना आवश्यक है, जिनके पास सही जानकारी हो और जिनको सचेतन सहयोग का निजी अनुभव हो तो वे

ग्रामीण भारत में एक तूफ़ान खड़ा कर देंगे और उसके समस्त वातावरण पर असाम्प्रदायिक भावनाएँ छा जाँयगी। जन-समूह की शक्ति को अब हम तक जान नहीं पाये हैं; उसे हमेशा हमने कम महत्त्व दिया है। किन्तु आज जनता को ही देश के उद्धार-कार्य में सबसे महत्वपूर्ण अभिनय करना है। वही है जो भारत को विदेशी शोषकों की विनाश नीति से बचा सकती है।

यदि एक बार ग्रामीण क्षेत्रों की जाग्रत जनता सृजनात्मक ऐक्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर ले, किसी काल्पनिक रजतवर्ण आदर्शवाद के लिए नहीं वरं ठोस पारस्परिक लाभ के लिए, तो नागरिक श्रमिक जनता का श्रमिक वर्ग को भी बदलकर समानधर्मा बनाने में उसे भाग कठिनाई न होगी। श्रमिक आन्दोलन शक्तिमान होता जा रहा है। वस्तुतः उसके विकास और वृद्धि की गति इतनी तेज़ है कि जो लोग अपने आराम-आसाइश और मुनाफे की वर्तमान स्थिति कायम रखना चाहते हैं, घबड़ा रहे हैं। हड़तालों के रूप में श्रमिक जागरण की क्रिया उग्र होती जा रही है। हर जगह उद्योगपतियों द्वारा उसकी शक्ति स्वीकार की जा रही है। इस अभूतपूर्व सफलता का कारण श्रमिकों की ठोस एकता है। ऐसे प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ट्रेड यूनियन वा मज़दूर संघों की सदस्यता अन्तंसाम्प्रिदायिक है। हड़तालें प्रायः अन्तसम्प्रिदायिक आधार पर ही होती हैं। और सभी सम्प्रदायों के मज़दूर उनमें भाग लेते हैं। आर्थिक शक्तियाँ जातियों एव सम्प्रदायों के प्राचीन ढांचों को तोड़ती जा रही हैं। जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं के अभाव के अनुभव से भी लोगों में निकटता आ रही है—क्योंकि सब को एक प्रकार का कष्ट भोगना पड़ रहा है। खाद्य संकट और कंट्रोल की दुकानें भी कृत्रिम बाड़ों को ध्वंस करती जा रही हैं। युद्धकाल में भी हमने अनुभव कर लिया है कि गोलियाँ और बम सम्प्रदाय पूछकर हानि नहीं पहुँचाते। बंगाल तथा देश के अन्य भागों में दुष्काल के बीच मृत्यु का जो तांडव हमने देखा है उससे भी

यही शिक्षा मिली है कि ये घटनाएँ हर जाति, हर सम्प्रदाय और हर प्रान्त के जीवन को समान रूप से प्रभावित करती हैं और इनके द्वारा प्रकृति सम्पूर्ण विभेदकारी दीवारों को ध्वंस करती रहती है। अब निरक्षर श्रमिकों ने भी यह देखना शुरू कर दिया है कि महामारियाँ और हवाई हमले, अकाल और बाढ़ें किसी सम्प्रदाय या जाति का पक्षपात नहीं करतीं; वे समस्त भेदों के प्रति निष्ठुर उदासीनता प्रदर्शित करती हुई सर्वत्र मृत्यु और विनाश का राज्य फैला देती हैं। मज़दूरों और किसानों, ग्रामीण और नागरिक जन-समूहों ने अकल्पनीय तेज़ी के साथ यह अनुभव करना आरंभ कर दिया है कि किसी समय महत्वपूर्ण समझे जाने वाले समस्त भेदों का तिरस्कार कर एक सामान्य अदृष्ट, एक सामान्य भाग्य सब की प्रतीक्षा कर रहा है। संयुक्त मोर्चे के लिए उन्हें संघटित करना उससे कहीं अधिक सरल है जितना बहुत से लोग समझते हैं।

नागरिक और ग्रामीण श्रमिक जनता की संयुक्त शक्ति प्रत्येक बाधा को दूर कर देगी। वह जो चाहेगी वही प्राप्त कर सकेगी। उचित एवं उप-युक्त नेतृत्व मिलने पर वह साम्प्रदायिक संघर्ष और विद्वेष का तुरन्त अन्त कर सकती है; वह धीरे-धीरे साम्प्रदायिक संस्थाओं का विघटन कार्य सिद्ध कर सकती है और फलतः जातियों एवं सम्प्रदायों का नाश कर सकती है। ग्रामीण वा नागरिक सर्वहारा श्रमिक जन समूह को जाति प्रणाली वा साम्प्रदायिकता से कुछ लाभ नहीं है। सर्वहारा दृष्टिकोण में इतनी यथार्थवादिता है कि वह देख सके कि बाड़ें और बाधाएँ जितनी कम होंगी अधिक स्वतंत्र और पूर्णतर जीवन के मौके उतने ही अधिक होंगे। यह जान लेने पर जनसमूह असम्प्रदायीकारण के लिए भीषण से भीषण संग्राम करने से मुँह न मोड़ेगा। जब तक हमारा वैज्ञानिक और नागरिक विकास उस विन्दु तक नहीं पहुँच जाता कि धर्म एक सर्वथा निजी प्रश्न बन जाय धार्मिक संस्थाओं को छेड़ना नहीं चाहिये। सिर्फ इतना ही होना चाहिये कि ये धार्मिक समाज वा संस्थाएं लोगों पर सामाजिक त्रिल-

गाव, आर्थिक असमानताएँ तथा राजनीतिक पृथक्करण न लाद सकें। मन्दिरों और गिरजों के घंटे प्रार्थना के समय उसी तरह बजते रहें; प्रति दिन उषाकाल में मोअज्ज़िन की आवाज़ उसी प्रकार दिन के आगमन की सूचना देती रहे; प्रत्येक रविवार को गुरुद्वारों में उसी प्रकार उत्सव मनाये जाते रहें। किन्तु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और सिख जीवन में इस प्रकार विभक्त न होंगे। अपनी जीविका के उपार्जन में, सुन्दर जीवन की खोज में व्यक्तिगत और राष्ट्रीय प्रगति के प्रयत्न में, आनन्द और मुक्ति की साधना में वे एक और अविभाज्य होंगे, उनकी भक्ति एक और अविभाज्य मातृभूमि के प्रति एक और अखण्ड होगी।

केवल शब्दों से बाड़े और रुकावटें नहीं तोड़ी जा सकतीं; वह कार्य है जिससे सब विभेद दूर होते हैं। शब्द एकता नहीं कर सकते; कार्य के लिए मनुष्य एक होते हैं। उन्हें किसी योग्य लक्ष्य के लिए लड़ने का अवसर दीजिए; वे कन्धे से कन्धा लगाकर, एक होकर लड़ेंगे और जिन बन्धनों तथा विभेदों ने उनको अलग कर रखा था उनकी कोई परवा न करेंगे। प्रसिद्ध साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने 'अखंड हिन्दुस्तान' में काठियावाड़ के एक मुसलमान वीर ईसा का मर्मस्पर्शी विवरण दिया है। एक जाट ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी सुन्दरी कन्या पर सिन्ध का सुमरा आसक्त हो गया। इसके लिए सुमरा और मुसलमानों में संघर्ष हुआ। एक हज़ार से अधिक मुसलमान मारे गये। मुसलमानों ने परमार राजपूतों से सहायता माँगी और पाई। युद्ध के बाद युद्ध होते रहे और एक मुस्लिम कुमारी की आबरू की रक्षा के लिए सैकड़ों हिन्दू परमारों ने मुसलमान जाटों के साथ प्राणोत्सर्ग किये। मांडव की पहाड़ी पर दो वीर सांघातिक चोट से आस-पास पड़े हुए थे। इनमें एक ईसा नामक मुसलमान वीर था और दूसरा उसका हिन्दू सहयोगी और बन्धु। जब ईसा का दम निकल रहा था तो उसने देखा कि-

केवल शब्द बेकार हैं

उसके शरीर से खून निकल कर इस हिन्दू साथी के शरीर से निकल रहे खून की ओर बहा जा रहा है। दोनों के खून मिलने में थोड़ी ही कसर थी। ईसा ने सोचा, मेरे मित्र ने मेरे लिए जान दी है, तब मेरा यह धर्म नहीं कि मरते समय उसके रक्त को अपना रक्त मिलाकर अशुद्ध करूँ। ईसा ने प्रचलित परम्परा के प्रकाश में ऐसा सोचा। उसने बड़ी मुश्किल से हाथ फैलाया और अपने बहते हुए खून के पास रेत की बाड़ बना दी जिससे उसका खून उसके मित्र के खून की ओर जाने और उसे अशुद्ध करने से रुक जाय। परमार ने उसकी सद्भावना और वफादारी का यह अन्तिम दृश्य देखा। उसका हृदय द्रवित हो गया। अपने मुसलमान मित्र से बिछुड़ना उसे असह्य और अकल्पनीय जान पड़ा। उखड़ती हुई साँसों को रोककर उसने अनुरोध किया—"ईसा! बाड़ हटा दो! हमारे खून मिलने दो। इस मृत्यु की वेला में तो हम में बिछोह न हो।"

एकता का यह दृश्य!

यही भारत है। यही भारत है जिसे कोई भारतीय विभक्त और खण्डित न होने देगा। हिन्दू और मुसलमान गुंडों के दंगे तो एक कृत्रिम और निरर्थक कृत्य है। हजारों ईसा और उनके हिन्दू बन्धुओं के हृदयों में पारस्परिक मैत्री, पारस्परिक सम्मान और परस्परोन्मुख प्रेरणाएँ विद्यमान हैं। एक बार जनता को उत्साहित होने दो, एक बार उनको साथ-साथ यत्न करने, पसीना बहाने का अवसर दो, तब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, एंग्लो-इंडियन, पारसी, सिख और हरिजन सब मिल जायँगे और एक सुदृढ़ तथा अजेय सैन्य दल की भाँति गाते हुए युद्ध-यात्रा करेंगे :—

"Two hands are we to serve thee, O our mother!
To strive and succour, cherish and unite;
Two feet are we to cleave the vanishing darkness
And gain the pathways of the dawning light.
One heart are we to love thee, O our mother,

One undivided, indivisible soul,
Bound by one hope, one purpose, one devotion,
Towards a great divinely—destined goal !"

[ओ हमारी माँ ! हम दो हाथ हैं, तुम्हारी सेवा के लिए,
प्रयास और सहायता, आकांक्षा और एका के लिए।
हम दो पाँव हैं,—ढलते अन्धकार को काटने के लिए,
और प्रभात के प्रकाश का मार्ग प्राप्त करने के लिए।
ओ हमारी माँ ! तुम्हें भक्ति और पूजा करने के लिए हम एक हृदय हैं
—एक अविभक्त, अविच्छेद्य आत्मा,
महान दैव—अभिप्रेत ध्येय की ओर
एक आशा, एक अभिप्राय, एक भक्ति से बँधी।"]

फिर कौन भारत को उस चिरवांछित स्वाधीनता, एकता और शक्ति के ईश्वर-प्रेरित अधिकार से विमुख कर सकता है ? तब हम भारतीय चालीस करोड़ आदमियों की पृथ्वी को कम्पित कर देने वाली पुंकार—वाणी—से घृणा, भय और लोभ के किले को ढहा देंगे। तब दस करोड़ घौंसों की पृथ्वी को उलट-पुलट कर देने वाली आवाज़ से हम अंधकार की शक्तियों को मार भगावेंगे और प्रभात हमें एक स्वतंत्र जाति के रूप में देखेगा—स्वतंत्र इसलिए कि हम में वह वीरभावना होगी जो घृणा और लोभ और अनीति को खा जायगी। क्योंकि केवल वीर ही स्वतंत्रता के अधिकारी होते हैं।

वीरभोग्या वसुन्धरा।

उपसंहार भाग

०

लेखक

श्रीरामनाथ 'सुमन'

मुक्ति-यज्ञ

पिछले पाँच वर्षों के परिवर्तन

मेरे मित्र श्री मोडक ने पिछले पन्नों में भारत के भाग्य और उसकी समस्याओं का विश्लेषण करते समय १९४१ तक की घटनाओं पर ही विशेष ध्यान रखा है। उनके विश्लेषण के मुख्य निष्कर्ष तो आज भी वैसे ही हैं, यद्यपि घटनाओं का क्रम-विकास कुछ ऐसे ढंग पर हुआ है कि पिछले पाँच वर्षों के बाद आज दुनिया बहुत बदल गई है। जो बातें पहले असंभव प्रतीत होती थीं, आज संभव हो गई हैं और जो संभव मालूम होती थीं, आज कल्पनातीत लगती हैं। युद्ध के फल-स्वरूप समस्त विश्व में मानवी अधिकारों एवं स्वतंत्रता के लिए जैसी प्रबल प्यास आज दिखाई पड़ती है, कभी न दिखाई पड़ी थी। पिछड़ी हुई वा औपनिवेशिक जातियों एवं देशों में गहरी उथल-पुथल हो गई है या हो रही है। विश्व की आत्मा आज पहले से अधिक सजग, अधिक जाग्रत है। चीन बहुत बदल गया है। और यद्यपि अब भी वहाँ साम्राज्यवाद का भेड़िया स्वतंत्रता के शिशु को उठा भागने की ताक में है, अब उसे विशेष भय नहीं। मध्य एशिया और मध्यपूर्व के देशों में स्वतंत्रता का क्षेत्र विस्तृत हो गया है और अब वहाँ के निवासी पहले की भाँति शतरंज के मोहरे बनने या साम्राज्यवादी शक्तियों का मनोरंजन करने के लिए तैयार नहीं हैं। फिलिपाइन-निवासी पहले से अधिक स्वतंत्र हैं और वृहत्तर भारत के देश—मलाया, सुमात्रा, जावा, इंडोनेशिया आदि—स्वतंत्रता के मार्ग में हैं और

अपनी मंज़िल पर पहुँचने के लिए सब प्रकार के त्याग और बलिदान की तैयारी रखते हैं।

युद्ध के फल-स्वरूप पश्चिमी दुनिया भी बहुत बदल गई है। अमेरिका और रूस दो देश आज दुनिया में सबसे शक्तिमान हो गये हैं।

पश्चिम में

ब्रिटेन की शक्ति और साधनों में बहुत कमी हो गई है। यद्यपि कूटनीतिक चालों के कारण आज भी उसकी गणना प्रथम श्रेणी की शक्तियों में की जाती है, पर उसका साम्राज्यवादी गठन आज खोखला हो गया है। युद्ध के बोझ से विजयी देशों की भी कमर टूट गई है। अमेरिका तक में आये दिन व्यापक हड़तालें होने लगी हैं; स्पष्ट है कि युद्ध के कारण वर्ग-भेद की खाई अधिक गहरी हो गई है; कुछ बहुत अधिक धनी होते जा रहे हैं; कुछ बहुत गरीब! इन विजयी देशों को वस्तुतः विजय से कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ; उलटे उनके यहाँ इतनी जटिल और इतने प्रकार की समस्याएँ पैदा हो गई हैं कि एक सुलझाते हैं कि दूसरी का तार उलझ जाता है। युद्ध ने विश्व का आर्थिक संतुलन बिल्कुल गड़बड़ा दिया है। श्रमिकवर्ग का स्टैंडर्ड ऊंचा हो गया है और उसे युद्ध-कालिक स्तर पर रखना और कारखानों को चलाना कठिन हो गया है; ज्यों-ज्यों पिछड़े देश जाग्रत होते जाते हैं, उनमें आर्थिक एवं राजनीतिक सजगता तथा दृढ़ता आती जाती है, वे अपने उद्योग-धंधे खड़े करते जाते हैं, साम्राज्यवादी सभ्यता की तोंद पिचकती जाती है; कहीं-कहीं उसमें छिद्र भी होते जाते हैं और भीतर का मवाद ऊपर आता जाता है। साम्राज्यवादी ढाँचे में ढले हुए चर्चिल-जैसे लोग आज भी संसार का तख्ता उलट देने के लिए और अपने वर्ग की रक्षा के लिए हाथ-पाँव मार रहे हैं, पर यह निश्चित है कि शोषण और उत्पीड़न की वह दुनिया धीरे-धीरे खत्म हो रही है। हर देश की सजग आत्माएँ मानवता के भविष्य के विषय में चिन्तित हैं; वे लोभ और उत्पीड़न, हिंसा और शोषण के स्थान पर सन्तोष और प्रेम, अहिंसा

और भ्रातृत्व के मूल्यों और प्रतीकों की स्थापना करना चाहती हैं। समाज में, साहित्य में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सर्वत्र मानव की प्रेम की प्यास, भ्रातृत्व की भूख और अहिंसा की प्रेरणा हिंसा को चैलेंज कर रही है। चाहे गांधीवाद हो या समाजवाद, युद्ध-कौशल और विचार-धारा में भेद होते हुए भी वर्तमान समाज के हिंसात्मक आधार को दूर करने की प्रेरणा आज के सभी प्रगतिशील आन्दोलनों और विचारकों के मूल में है।

१९४० के बाद हमारे देश की राजनीतिक स्थिति में द्रुत गति से परिवर्तन हुए हैं। युद्ध ने हमारी विवशता को हमारे सामने घनीभूत करके रखा; समस्त राष्ट्र की इच्छा को ठुकराकर भारत को ब्रिटिश परराष्ट्रनीति के पुछल्ले के रूप में वर्ता गया। जिन देशों से हमारी कोई शत्रुता न थी, उनसे भी हमें लड़ना पड़ा। खैर, राष्ट्र लड़ने के लिए भी तैयार था पर वह यह जान लेना चाहता था कि खुद उसके हक़ में इस लड़ाई का क्या नतीजा होगा; जिन जनतंत्रात्मक प्रवृत्तियों की रक्षा के नाम पर वह लड़ा जा रहा है वे उस पर भी लागू होंगी या नहीं। दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हम युद्ध में अपनी बलि दें पर क्या इन राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा के बाद हम खुद भी स्वतंत्रता की वायु से अपने फेफड़ों को सुदृढ़ करने के अधिकारी होंगे।

युद्धारंभ में भारत

ब्रिटिश शासक-मंडल इस प्रकार की कोई घोषणा करने अथवा आश्वासन देने को तैयार न था; वह कोई स्पष्ट घोषणा करके शब्दों में बँधना न चाहता था। इससे देश के सभी वर्गों में नाराज़ी फैलती गई। उधर युद्ध की स्थिति विषम होती जा रही थी। पूर्व में जापान ने तीव्र गति से, बाज़ की तरह एकाएक झपट कर, अमेरिकन एवं ब्रिटिश क्षेत्रों पर हमले कर दिये; प्रमाद-वश अमेरिका और ब्रिटेन दोनों अपने को इतना शक्तिशाली समझे हुए थे कि वे इस ख्याल में मस्त थे कि यह भुनगा जापान हमें क्योंकर छेड़ सकता है, पर भुनगे को न जाने क्या दिल्लगी सूझी

ब्रिटेन की अस्पष्ट नीति

कि उसने एकाएक अमेरिकन साम्राज्य पर हमला किया और हमला कुछ इस ज़ोर और तेज़ी से किया कि अमेरिका और ब्रिटेन का सैनिक मंडल दाँतों तले उँगली दबाये देखता रह गया; शेर चीख कर पीछे हट गये और भुनगे ने भारत को छोड़ उनका सारा पूर्वी साम्राज्य एक झपाटे में छीन लिया।

देखते-देखते फिलिपाइन गया, हवाई द्वीपसमूह गये; सुमात्रा, जावा गये, सिंगापुर का बहु-विज्ञापित नौसैनिक अड्डा गया, और बर्मा पर भी शत्रु का अधिकार हो गया। इस समय भुनगे का करिश्मा देखकर दुनिया हैरत में थी; ब्रिटिश सरकार के तो होश-हवास ठिकाने न थे। सिंगापुर के पतन और बर्मा के हाथ से निकल जाने के कारण रबर, टिम्बर, टिन, ताँबा और तेल का सबसे बड़ा क्षेत्र ब्रिटेन के हाथ से निकल गया—युद्ध में इनके महत्त्व को युद्ध-विज्ञान का छोटा से छोटा विद्यार्थी भी आज समझ सकता है।

क्रिप्स मिशन की फूट चाल

रंगून और बर्मा से अरक्षित दशा में छोड़े हुए भारतीय जब भाग भाग-कर भारत लौटे तो उन्होंने ब्रिटिश अफ़सरों और ब्रिटिश सेना के नैतिक पतन तथा जापानियों के साहस की जो अतिरंजित घटनाएँ सुनाईं तथा बर्मियों-द्वारा ब्रिटिश सरकार के विरोध में किये गये आन्दोलनों का जो विवरण दिया उससे देश में आतंक बढ़ता गया। यह अफ़वाह भी फैली कि भारतीयों के प्रति जापानियों का व्यवहार अपेक्षाकृत अच्छा है और बहुत से भारतीय सैनिक उधर मिल गये हैं। आसाम पर शत्रु के हवाई हमले शुरू हो गये थे; अंडमन हाथ से निकल गया था और शत्रु ब्रिटिश साम्राज्य के हृदय भारत के दरवाज़े पर खड़ा था। चर्चिल-जैसा युद्ध का कुशल बाजीगर घबड़ा रहा था। स्पष्ट था कि जब बाहर से एक प्रबल शत्रु भारत के दरवाज़े को तोड़ रहा हो, देश में प्रबल राजनीतिक असन्तोष क्रियात्मक रूप में भड़क उठे तो भारत की रक्षा करना असाध्य हो जाता।

अंग्रेजों को अपना सैनिक पुनर्गठन करने और भारत के मोर्चे को सुदृढ़ करने के लिए समय अपेक्षित था, इसलिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स-जैसा कुशल कूटनीतिज्ञ समझौते के लिए भेजा गया। सर स्टैफर्ड ने रूस और ब्रिटेन के जटिल सम्बन्धों को मास्कोस्थित ब्रिटिश राजदूत के रूप में जिस कुशलता से सुलझाया था, उसके कारण तथा उनकी प्रगतिशील घोषणाओं और नीतियों के कारण तथा इसलिए भी कि भारत के राजनीतिक नेताओं में कई उनके निजी मित्र थे, ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ शासक-मंडल ने उनका उपयोग किया पर जब बातें हुईं, प्रस्तावों का विश्लेषण हुआ तब पता चला कि उन प्रस्तावों में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है; कोरा शब्द-जाल है। देश तो भविष्य की सुनहली आशाओं और रजत आश्वासनों की जगह तुरन्त कुछ अधिकार चाहता था—ब्रिटिश नीयत के ठोस प्रमाण के रूप में। उधर ब्रिटिश शासक-मंडल चकमा देकर काम निकाल लेने की नीति में विश्वास रखता था। इस तरह की चालबाज़ी गांधी जी-जैसे नीति के प्रवक्ता को ज़रा भी आकर्षित न कर सकी और उन्होंने स्पष्टतः क्रिप्स के प्रस्तावों को सारहीन बताते हुए अपना वक्तव्य दिया। इसी वक्तव्य में उन्होंने उस अमर वाक्य का प्रयोग किया जो प्रसिद्ध हो चुका है—'एक टूटते हुए बैंक पर भविष्य की तिथि का चेक'। तात्कालिक वायसराय तथा ब्रिटिश शासक-मंडल को गांधी जी की वाणी बहुत चुभी। पर सत्य यही था। उस समय स्थिति ऐसी ही थी। सुनते हैं, गांधी जी ने एक निजी मुलाकात के दौरान में सर स्टैफर्ड से कह भी दिया—आप जैसे चतुर कानूनदाँ को भी चर्चिल-वर्ग ने मूर्ख बनाया। भारत के किसी भी राजनीतिक दल को इन प्रस्तावों से सन्तोष न था। एक ज़माना था जब मीठी-मीठी बातें और भविष्य के आश्वासन हमें लुभा सकते थे, पर ज़माना बदल गया था; राजनीतिक विचार-पथ में भारत बहुत आगे बढ़ गया था। और तेज़ी से बदलती हुई दुनिया और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की ओर दिलचस्पी के साथ देख रहा था। अब कोरे वादों और राजनीतिक शब्द-जाल में उसे कोई मज़ा न आता था।

क्रिप्स का मिशन गहरी असफलता में समाप्त हुआ। देश के जाग्रत एवं भावुक मन पर ब्रिटेन की इस टाल-मटोल नीति की गहरी प्रतिक्रिया हुई। असन्तुष्ट राष्ट्र का हवन-कुण्ड फिर चेता; गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' (क्विटइंडिया) का नारा देश को दिया। इन दो शब्दों में राष्ट्र की मानसिक स्थिति और असन्तोष का प्रतिनिधित्व हुआ। अगस्त १९४२ को बम्बई की भारतीय कांग्रेस कमेटी के सम्मेलन में इसी नारे के प्रकाश में और गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्र का युद्ध चलाने का निश्चय हुआ। इस बार जनता पर ही युद्ध का अन्तिम संचालन-भार पड़ने की संभावना थी। ब्रिटिश सरकार ने सदा की भाँति कांग्रेस की पीठ में छुरा भोंकने की चेष्टा की। बिना किसी उत्तेजना के बम्बई में एकत्र सब नेता गिरफ़ार कर लिये गये और समस्त देश में दमन का वह दौर चला जिसके आगे चंगेज़ के दमन की कहानियाँ फीकी पड़ गईं। लाखों गिरफ़ारियाँ हुईं; हज़ारों बार गोलियाँ चलीं; हवाई जहाज़ों से गोलियों की वर्षा हुई; गाँव के गाँव घेरकर जला दिये गये; और कानून के रक्षकों ने लूट, चोरी, व्यभिचार का वह नंगा नृत्य आरम्भ किया, जिसकी याद पीढ़ियों तक हमारे रक्त को खौलाती रहेगी। ब्रिटिश-काल का भारतीय इतिहास एक से एक काली, नारकीय घटनाओं और दग़ा-फरेब तथा उत्पीड़न के काले से काले कारनामों से कलंकित है। पर १९४२ में भारत में जो हुआ वह जिस दिन विस्तृत एवं प्रामाणिक रूप में दुनिया के सामने आयेगा तो विश्व की आत्मा काँप जायगी।

दमन का आरंभ

पर, सरकार ने जो सोचा था वह नहीं हुआ। वह गुस्से से पागल हो रही थी और उसने निश्चय कर लिया था कि इस बार राष्ट्रीयता की आकांक्षा और उसका प्रतिनिधित्व करनेवाली राष्ट्रीय महासभा को सदैव के लिए कुचल दिया जाय। उत्पीड़नकारी और निरंकुश शासन के पास अनीति, अत्याचार, दमन, विभेद-प्रसार के सिवा दूसरा अस्त्र नहीं होता।

सरकार का सोचा न हुआ

उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि संकुचित होती है; इतिहास की शिक्षा पर वह कभी ध्यान नहीं देता; उससे कुछ सीखना नहीं जानता। वह सदा यही समझता है कि क्रान्तिकारी शक्तियाँ पशु-बल से दबाई और निर्मूल की जा सकती हैं। पर होता उलटा है; दमन के प्रत्येक प्रहार से राष्ट्र के हृदय का घाव गहरा होता है; उसका असन्तोष बढ़ता है; उसका निश्चय दृढ़ होता है। स्वतंत्रता की आग दमन से भभकती है। १६४२ एवं उसके बाद के दमन में जनता में एक आश्चर्यजनक भावना पैदा हुई। जब बड़े से लेकर छोटे-मोटे अधिकांश नेता गिरफ्तार हो गये, जनता ने अपना नेतृत्व अपने हाथ में लिया; उसने दमन के आगे घुटने टेकने के स्थान पर उसका सक्रिय प्रतीकार किया; डट कर सरकार का मुकाबला किया और बहुत से स्थानों में तो उसने ब्रिटिश सल्तनत का तख़्ता उलट दिया; खुद शासन की बागडोर अपने हाथ में लेली। बलिया, चटगाँव आदि में जनता की सरकार स्थापित हुई। सरकार समझती थी कि भारत की जनता, नेताओं के अभाव में दब जायगी पर वह न हुआ। राष्ट्रीयता के इतिहास में यह पहला अवसर था जब महान् जनसमूहों ने अपनी प्रेरणा और बुद्धि से राष्ट्रीयता के प्रति सरकारी चैलेंज—चुनौती—का उत्तर दिया।

दूसरी बात यह हुई कि यद्यपि राष्ट्रीयता का यह युद्ध प्रधानतः अहिंसा-प्रधान ही था, सरकार की घोर हिंसा से उबलकर जनता ने भी अनेक स्थानों पर हिंसा का आश्रय लिया। थोड़े-बहुत जो कार्यकर्ता पुलीस के हाथ न पड़े, उन्होंने अपना गुप्त संघटन बनाया और जनता के उत्साह को क्रान्तिकारी गठन एवं कार्य में लगाने की चेष्टा की। कुछ प्रगतिशील नेता छिपे रह गये थे। उन्होंने विविध वेशों में भारत के विभिन्न भागों में घूम-घूम कर बचे-खुचे कार्यकर्ताओं को एक सूत्र और व्यवस्था में बाँधने और आगामी विद्रोह के लिए उन्हें तथा जनता को तैयार करने की चेष्टा की।

उधर मलाया और बर्मा के पतन के बाद वहाँ के भारतीयों ने अपने

को संघटित किया। अपनी रक्षा तथा भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ने के उद्देश्य से 'आई० एन० ए०' या 'इंडियन नेशनल आर्मी' बनाई गई। कर्नल मोहन सिंह इसके प्रथम संस्थापक थे। पर जापानियों से मतभेद हो जाने के कारण उसे तोड़ देना पड़ा। इसी समय भारतीय

आई० एन० ए० का गठन

राष्ट्रीय महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बसु, जो सरकार को चकमा देकर भारत से एकाएक ग़ायब हो गये थे और काबुल के रास्ते जर्मनी पहुँच चुके थे, जर्मनी से एक सैनिक पनडुब्बी में बैठकर घोर साहसिकतापूर्ण और लम्बी गुप्त यात्रा के बाद सिंगापुर पहुँचे। उनकी अधीनता में 'आई० एन० ए०' का पुनः संघटन किया गया और बाकायदा एक अस्थायी स्वतंत्र भारतीय सरकार की स्थापना हुई। मंत्रि-मंडल गठित हुआ; विभिन्न विभागों का संघटन हुआ। भारतीय सेना के बहुत से अफसर, सिपाही, भारतीय जनता इसमें शामिल हुई। स्वतंत्र बैंक, रेडियो स्टेशन आदि की स्थापना हुई। स्वतंत्र स्टाम्प, सिक्का, करेंसी आदि चलाये गये। कई स्वतंत्र देशों की सरकारों ने इस भारतीय सरकार को मान्यता दी; उनके राजदूत वहाँ नियुक्त हुए। जनता ने इस कार्य के लिए धन की तो वर्षा कर दी। बर्मा, अंडमन आदि क्षेत्र इस सरकार के अधिकार में थे। स्वतंत्र भारतीय सेना ने बर्मा के जंगलों और आसाम की पहाड़ियों में जो असाधारण वीरता और कष्ट-सहिष्णुता दिखाई, उससे जापानी भी दंग रह गये। जिस सुव्यवस्था और सैनिक कुशलता का परिचय इस स्वतंत्र सरकार और सेना ने दिया उसको देखकर जापान, जर्मनी आदि के सेनापतियों और बड़े-बड़े अफ़सरों का कहना था कि हम लोग हर्गिज़ इतनी अच्छी व्यवस्था और रण-नीति-कुशलता का परिचय न दे सकते थे। बर्मा और आसाम में आई० एन० ए० ने अनेक स्थानों पर ब्रिटिश फौजों को बुरी तरह हराया और खदेड़ा; उसने आसाम के बहुत से हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया था। ऋतु की प्रतिकूलता, आधुनिक युद्ध-

सामग्री की कमी तथा परिस्थितिजन्य कतिपय जटिलताओं के कारण वह भारत को स्वतंत्र करने में सफल न हो सकी। जापान के पतन तथा जापानी सेना के हथियार डाल देने के बाद उसने स्वतंत्र सेना के रूप में आत्म-समर्पण किया। चाहे उसे अन्तिम सफलता न मिली हो पर उसने भारतीय कल्पना और राष्ट्रीय प्रवृत्तियों पर गहरा असर डाला है। इसने यह दिखा दिया कि भारतवासी बड़ी से बड़ी सेना का संघटन और संचालन अत्यन्त कुशलतापूर्वक कर सकते हैं और स्वतंत्र सरकार-संचालन की शक्ति और नीतिमत्ता भी उनमें पर्याप्त मात्रा में मौजूद है। सबसे आश्चर्यजनक कार्य, जो इस अस्थायी स्वतंत्र भारतीय सरकार एवं आई० एन० ए० ने किया, वह था कि जो साम्प्रदायिकता भारत के भाग्याकाश पर काली छाया के समान छा गई है और जिसने पिछले पचीस वर्षों के सतत प्रयत्न के बावजूद हमारे सर्वोत्तम मस्तिष्कों को पराजित कर रखा है, वहाँ कहीं देखने को भी न बची। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सब भाई-भाई की तरह रहते और अनुभव करते थे; खान-पान सब एक था; उनका केवल एक ही धर्म था—भारतीय राष्ट्रीयता, और उनके सामने केवल एक ही आदर्श, एक ही स्वप्न था, भारत को स्वतंत्र करने का। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो ब्राह्मण यहाँ इतना कट्टर बनता है, जो मुसलमान यहाँ पाकिस्तान की बातें करता है, जो सिख केवल खालसा और पंथ का भक्त है और जो ईसाई सबको अपने ही धर्म के संरक्षण में लेने को विकल है, वहाँ सारे भेदभाव कैसे भूल गया? मैं इस दल के बहुत से आदमियों से मिला हूँ; अशिक्षित या नाम मात्र के लिए साक्षर, गाँवों के अपने धर्म में कट्टर रहना सिखानेवाले वातावरण से आये हुए सिपाहियों से बातें की हैं। मैंने अनुभव किया है कि सुभाष बाबू ने इन्हें एक आध्यात्मिक भावानुभूति से भर दिया था; उनका जीवन ही बदल गया था; भारत की पीड़ित, चीखती हुई आत्मा के दर्शन ने उन्हें समस्त कठिनाइयों को सहने की शक्ति दी थी। पुराने क्रान्तिकारियों की भाँति वे अपहृता, अपमानिता, पददलिता भारत माता का

अनुभव कर पाये थे; उनके लिए भारत एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं था; वह मानो रक्त-मांस का बना उनके सर्वनिष्ठ मातृत्व का सजीव प्रतीक था। जैसे उन्हें एक दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई थी।

इस काल में भारत की समस्या हल करने के लिए हमारे देश में हिन्दू-मुसलिम समझौते के कई प्रयत्न हुए; वैधानिक समस्या हल करने की भी चेष्टा हुई पर सफलता न मिली। उधर युद्ध के बाद

मुक्ति और निर्वाचन

ब्रिटेन में जो जन-जागरण हुआ उसने पार्लमेंट के नये चुनाव में पुराने दकियानूसी राजनीतिज्ञों के तख्ते उलट दिये। अनुदार दल की ऐसी पराजय हुई जैसी कभी न हुई थी। मजूर दल ने भारी बहुमत से इंग्लैंड का शासन अपने हाथ में लिया। इससे भारत की स्थिति भी धीरे-धीरे बदलने लगी। बड़े-बड़े नेता छूटे; प्रतिबन्धों में कमी हुई। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के लिए चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस सबसे शक्तिमान भारतीय दल के रूप में विजयी हुई, पर यह भी मानना ही पड़ेगा कि अधिकांश मुसलमान क्षेत्रों से मुस्लिमलीग के उम्मीदवारों ने सफलता प्राप्त की। नवीन निर्वाचन के फल-स्वरूप आसाम, बिहार, युक्तप्रान्त, सीमाप्रान्त, मध्यप्रान्त, उड़ीसा, मद्रास, और बम्बई नौ प्रान्तों का शासन आज कांग्रेस के हाथ में है। इन प्रान्तों में कांग्रेस का इतना बहुमत है कि किसी बिल के पास कराने के लिए भी उसे किसी दूसरे दल की सहायता की आवश्यकता नहीं है। पंजाब में यूनियनिस्ट, सिख और कांग्रेस की संयुक्त सरकार है। पंजाब में पहली बार कांग्रेस ने ज़बर्दस्त शक्ति प्राप्त की। सिंध और बंगाल में भी कांग्रेस पार्टी बहुत शक्तिशाली है। इन दोनों प्रान्तों में मुस्लिमलीग की सरकारें हैं पर उनकी स्वतंत्र शक्ति इतनी नहीं है कि बिना दूसरे दलों की सहायता के काम चला सकें। उन्हें प्रायः युरोपीय दल की सहायता लेनी पड़ती है। कांग्रेस ने सिवाय मुस्लिम सीटों के और सब तरह की सीटों पर अपने प्रभाव को सिद्ध कर दिया है। सिखों के

निर्वाचन क्षेत्र में उसने अकाली पार्टी के प्रबल संघटन के विरोध में भी काफ़ी सफलता प्राप्त की; ईसाई क्षेत्रों से अनेक स्थानों पर उसने क़ब्ज़ा किया; मजूरों की अधिकांश सीटें उसने विजय कीं। मुस्लिम क्षेत्रों से भी उसके या उसकी सहयोगी पार्टियों के अनेक सदस्य चुने गये; उसके मुसलमान उम्मीदवारों को काफ़ी वोट मिले।

अमात्य शिष्टमंडल

इसी बीच एक पार्लमेंटरी प्रतिनिधि मंडल भारत आया जिसमें सभी दलों के सदस्य थे। इसने भारत आकर यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति का भलीभाँति अवलोकन किया, विभिन्न दलों की विचार-धारा तथा शक्ति का अध्ययन किया तथा प्रमुख भारतीयों एवं सरकारी प्रतिनिधियों से भी मिले। इसके फलस्वरूप उन सबने भारतीय समस्या के शीघ्र हल करने पर ज़ोर दिया। ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने गंभीरतापूर्वक इस पर विचार करना आरंभ किया। इधर न केवल भारत की जनता में बल्कि विभिन्न भारतीय सैनिक दलों तथा समुद्री एवं हवाई सेनाओं में भी असन्तोष की मात्रा बढ़ती गई। यहाँ तक कि कई जगह विद्रोह के लक्षण दिखने लगे। रायल इंडियन नेवी में तो घोर विद्रोह मच गया। खुलकर लड़ाई हुई। बात यह थी कि अब सैनिकों में भी राष्ट्रीयता तथा आत्म-सम्मान के भाव जाग्रत हो रहे थे। अब वे विदेशियों के इशारे पर, उनके स्वार्थ के लिए जान देने वाले, रुपयों के गुलाम न रह गये थे। उन्होंने स्वतंत्र देशों की सेनाओं के आचार-विचार देखे थे और अब उनमें भी परिवर्तन हो रहा था। ब्रिटिश मजदूर सरकार समझ गई कि अब अधिक समय तक भारत पर क़ब्ज़ा रखना संभव न होगा और देर करना खतरनाक है। इसीलिए उसने मंत्रि-मंडल के तीन प्रमुख सदस्यों (भारतमंत्री सर पैथिक लारेंस, सर स्टफ़र्ड क्रिप्स और नौसेना सचिव श्री अलेक्जेंडर) को साधिकार समझौता करने और भारतीय स्वतंत्रता की समस्या हल करने के लिए भारत भेजा। वायसराय और मंत्रि-मंडल के इन तीन सदस्यों ने भारत आकर गवर्नरों, भारत सरकार की कार्य-

समिति के सदस्यों, प्रमुख नेताओं, कांग्रेस, मुस्लिमलीग लिबरल इत्यादि राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों तथा अनेक आवश्यक व्यक्तियों ने भेंट की; स्थिति का भलीभाँति अध्ययन किया। उन्होंने कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधियों में समझौता कराने की भी कोशिश की जो सदा की भाँति असफल हुई। गांधी जी तथा देश के बहुत से लोगों ने इन लोगों की सच्चाई में विश्वास प्रकट किया है तथा कांग्रेस-लीग समझौते के असफल होने पर उन लोगों ने अपनी ओर से जो योजना घोषित की है उसकी प्रशंसा भी की है। पर अधिकांश भारतीयों को ब्रिटेन की सद्भावना पर अब भी विश्वास नहीं है। सदा की भाँति इस बार भी समस्या के हृदय तक पहुँचने की कोई चेष्टा नहीं की गई; व्यर्थ की भेंटों और लम्बी वार्ताओं में काफ़ी समय नष्ट किया गया। असली चीज़ भारत की स्वतंत्रता की घोषणा थी, उसके बारे में टालमटोल किया जा रहा है। यह जानते हुए कि कांग्रेस और लीग के दृष्टिकोण पूर्व पश्चिम की तरह भिन्न हैं, उन्हें मिलाने का नाटक करना ही व्यर्थ था। इसका तात्पर्य जगत् में भारत के अनैक्य की घोषणा करना ही जान पड़ता है। लीग का दृष्टिकोण बिल्कुल मध्यकालिक और साम्प्रदायिक है; कांग्रेस जनतंत्रात्मक है। दोनों का मेल यदि हो जाये तो भी उपहासास्पद होगा। उसकी शक्ल अजीब होगी —मुँह आदमी का, धड़ जानवर का।

पचास वर्षों की ब्रिटिश परम्परा

पिछले पचास वर्षों से भारत के सम्बन्ध में ब्रिटेन की जो नीति रही है और उस नीति के विस्तार के लिए भारत की एकता को जिस प्रकार धीरे-धीरे खंडित किया गया है उसे देखकर हमें इन मित्रों की सदिच्छाओं पर शंका करनी ही पड़ती है। पहले तो ब्रिटिश शासन ने भारत को एक भौगोलिक इकाई का रूप देने की प्रबल चेष्टा की, उसे एक राष्ट्र-भाषा, शासन की एक सी पद्धति और सभी देशवासियों के लिए एक सा कानून. वाले एक सुगठित देश का रूप देने का प्रयत्न किया। समस्त देश में

भारतीयता, राष्ट्रीयता की भावना फैली। प्रान्तों के बीच व्यापारिक सीमाएँ नष्ट हो गईं। हज़ारों कारखाने, कम्पनियाँ खुलीं जिनमें प्रान्त का ख्याल न कर समस्त भारतीयों ने पूँजी लगाई। रेलवे, डाक, करेंसी इत्यादि ने एक देश की चेतना का संचार किया। पर इस प्रकार का 'यूनिटरी' या प्रबल केन्द्रीय शासन तभी तक अच्छा समझा गया जब तक कि ब्रिटेन का भारत में कब्ज़ा रहने में कोई शंका न थी; या उस अधिकार को चैलेंज करनेवाली किसी शक्ति का विकास नहीं हुआ था। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आकांक्षा प्रबल होती गई, ब्रिटेन ने राष्ट्रीयता की शक्ति तोड़ने के लिए अपनी नीति से हटना शुरू किया। राजनीतिक क्षेत्र में उसने अल्पसंख्यक जातियों के हित-रक्षण के नाम पर, साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का आरंभ किया; इस प्रकार भारतीय नागरिक को भारतीय के रूप में अपनी शक्ति, अधिकार और उत्तर-दायित्व की अनुभूति करने से विरत किया गया; अब एक भारतीय नागरिक न रहकर हिन्दू या मुसलमान, या सिख या ईसाई वग़ैरा के रूप में ही हमारा राजनीतिक अस्तित्व रह गया। इसके बाद यह भेद-नीति और आगे बढ़ी। पिछड़ी जातियों के अधिकारों की रक्षा के नाम पर सरकारी नौकरियों का भी साम्प्रदायिक आधार पर बँटवारा किया गया। अर्थात् शासन के भीतर भी साम्प्रदायिकता का विष 'इंजेक्ट' किया गया। १६३५ के सुधारों ने साम्प्र-दायिकता के साथ प्रान्तीयता की भावना बढ़ाने की दूसरी कूटनीति का आश्रय लिया। उसने संघ-विधान के नाम पर केन्द्रीय शक्ति को विभाजित करने की दिशा में एक क़दम और आगे बढ़ाया। प्रान्तों को स्वायत्त शासन देने के प्रलोभनकारी नाम पर यह किया गया। देश के बड़े-बड़े लोग इन बातों में धोखा खा गये। प्रान्तीय स्वायत्त शासन के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने केन्द्र को तब तक असाधारण अधिकार दे दिये, जब तक भारत स्वतंत्र नहीं है। इससे एक ओर भारत की शक्ति विभाजित होती गई, लोगों में प्रान्तीयता बढ़ी और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में असली सत्ता भी रख ली। १६४२ के आन्दोलन के समय

या युद्ध काल में स्पष्ट हो गया कि प्रान्त वस्तुतः अशक्त हैं। १९४२ के क्रिप्स प्रस्तावों के मूल में भी इसी भेदनीति बढ़ाने की भावना थी। उसमें भावी भारत के प्रस्तावित संघ से प्रान्तों के पृथक होने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। अमात्य शिष्टमंडल ने जो घोषणा की है, उसमें भी इसी नीति को आगे बढ़ाया गया है। ऊपर से तो राष्ट्रीय वर्गों को धोका देने के लिए भारत की अखण्डता को क़ायम रखा गया तथा पाकिस्तान को अव्यावहारिक बताया गया है। फिर भी पाकिस्तान के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की गई है। इस दिशा में वह क्रिप्स योजना से भी एक क़दम आगे बढ़ गया है। क्रिप्स योजना में केवल प्रन्तों को प्रस्तावित संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था, वर्तमान योजना न केवल भविष्य में संघ में सम्मिलित होने वाली प्रान्तीय इकाइयों के संघ से अलग होने का अधिकार स्वीकार करती है, बल्कि समस्त प्रान्तों को अलग-अलग तीन विभागों में बाँट देती है और प्रान्तों को अनेक वर्षों तक अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरे प्रान्तों के साथ रहने को विवश करती है। आसाम में हिन्दू बहुमत है पर उसे ज़बर्दस्ती बंगाल में सम्मिलित होना पड़ेगा। इस तरह बहुमत अल्पमत में बदल जायगा। इसी प्रकार सीमाप्रान्त को, जहाँ राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल है और जहाँ जनता मुसलमान होते हुए भी कांग्रेस के साथ है, पंजाब के साथ बाँधा गया है। मतलब ज़बान से पाकिस्तान को अव्यावहारिक बताकर भी कार्य-रूप में पाकिस्तान की घोषणा की गई है। इस तरह पूर्व और पश्चिम में जिन्ना के दोनों पाकिस्तान भी बन जाते हैं और कहने को हिन्दुस्तान की एकता भी बनी रहती है। इस प्रकार केन्द्रीय शक्ति को पंगु करने और भारत को तीन खण्डों में बाँटने की योजना हमारे सामने आई है। साम्प्रदायिक न्याय-अन्याय को छोड़ प्रान्तों के हित की दृष्टि से भी देखिए तो योजना घोर अन्यायमूलक है। छोटा-सा सीमाप्रान्त है, उसकी जन-संख्या कम है, उसकी आर्थिक शक्ति कम और असंघटित है; उसे बड़ा पंजाब और उसके व्यवसायी

निगल जायँगे। संयुक्त धारा सभा में उसकी वाणी की क़ीमत क्या होगी; उसके थोड़े से प्रतिनिधि क्या बना लेंगे; वह भाग पिछड़ा का पिछड़ कर रह जायगा। मतलब केन्द्रीय सरकार कमज़ोर, साम्प्रदायिक भावना प्रबल होगी और भारत की एकता सदा के लिए नष्ट हो जायगी। उधर भारत के स्वतंत्र होते ही देशी राज्य स्वतंत्र हो जायँगे और संघ में शरीक होना और उसकी शर्तें तय करना उनकी इच्छा पर निर्भर करेगा। आज रियासतों पर केन्द्रीय सरकार के अध्यक्ष, सम्राट के प्रतिनिधि वायसराय की जो सार्वभौम सत्ता है, भारत की स्वतंत्रता के साथ उसका अन्त हो जायगा। क्यों? वह सर्वभौम सत्ता स्वतंत्र भारतीय सरकार को हस्तान्तरित क्यों न की जायगी? स्पष्ट है कि जब तक सत्ता ब्रिटेन के हाथ में है उसने देशी राज्यों और प्रान्तों को दबा रखा है और जब सत्ता भारत के हाथ में दी जायगी तो इन सबको अपनी-अपनी डफली बजाने के लिए स्वतंत्र कर दिया जायगा। इस प्रकार राष्ट्रनीति में साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता को बढ़ाकर तथा अनुदार एवं प्रजासत्ता-विरोधी देशी राज्यों को महत्व देकर भारत के जनतंत्रात्मक विकास और उसके राष्ट्रीय ऐक्य एवं संघटन के मूल में कुठाराघात करने की चेष्टा की गई है। इसमें भारत की स्वतंत्र सरकार की शक्ति को कुण्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें भारत की वर्तमान विषैली साम्प्रदायिकता को स्थायी करने की प्रवृत्ति है।

प्रस्तावों के दोष

मुझे भय है कि इस प्रकार की पाबन्दगीरी से भारत की समस्या न हल हो सकेगी, न एक स्वस्थ भारत का निर्माण ही संभव हो सकेगा। इसके लिए निम्नलिखित बातों की तुरन्त आवश्यकता है :—

१. भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा तथा किसी प्रकार की बाधा या शर्त के बिना सर्वोच्च सत्तात्मक संस्था के रूप में विधानपरिषद की स्वीकृति।

२. प्रान्तों को तीन क्षेत्रों या प्रान्तीय समूहों में से किसी के भी साथ

सम्मिलित होने या न होने की स्वतंत्रता।

३. सुदृढ़ केन्द्र की स्थापना। रक्षा, वैदेशिकनीति, यातायात, डाक-तार मुद्रा, बैंक, राजस्व, आयात-निर्यात पर उसका पूर्ण नियंत्रण।

४. समान नागरिक अधिकारों की गारंटी।

५ आर्थिक या अन्य प्रकार की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता से प्रान्तों की रक्षा।

यह याद रखना चाहिए कि जहाँ विभिन्न प्रान्तसमूहों में कटुता होगी तहाँ केवल केन्द्र ही पारस्परिक सामाजिक एवं आर्थिक प्रतिद्वंद्विता से उनकी रक्षा कर सकता है; वही उनमें सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना कर सकता है; वही समस्त भारत के हित की दृष्टि से मुद्रा एवं आर्थिक योजनाओं का नियंत्रण कर सकता है।

वस्तुतः भारत की समस्या उतनी जटिल नहीं जितनी बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ हमें बताते हैं। यदि शासक जाति वस्तुतः ईमानदार है तो वह एक दिन में उसे हल कर सकती है और निश्चय ही वह दिन विश्व के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण और क्रान्तिदर्शक समझा जायगा जिस दिन ब्रिटिश सरकार बिना किसी हिंसात्मक संघर्ष के स्वतः अपने, भारत और मानव जाति के हित के लिए भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा करेगी। वह दिन अत्यन्त निकट हो, हम प्रभु से इसकी कामना करते हैं।

यदि ऐसा हुआ तो मानव स्वतंत्रता के इतिहास में यह एक प्रबल अहिंसात्मक क्रान्ति होगी और इससे इस बात का प्रमाण भी मिलेगा कि मृत्यु और अन्धकार के बीच से भी मानव मस्तिष्क अमृत और प्रकाश की ओर जा रहा है; हिंसा से उसकी गति अहिंसा और भ्रातृत्व की ओर है और संसार में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है जो शोषण और पशु बल को, चाहे धीरे-धीरे ही, त्यागने और सर्वसमाज के कल्याण की भावना की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करने को तैयार हो रहे हैं।

पर यदि ऐसा न हुआ, यदि राष्ट्र को इस बार भी निराशा हुई तो न जाने क्या होगा। जो भी विस्फोट होगा; अभूतपूर्व होगा और जन समूह की स्वतंत्रता की अदम्य भावना न जाने क्या रूप को जानै कल की ! धारण करेगी। सरकारी पक्ष की ओर से होनेवाला दमन भी भयंकरतम होगा। यदि तुरन्त समस्या न हल हुई तो भारत का निकट भविष्य अन्धकारमय है। उस अवस्था में राष्ट्रीयता के यात्री के सामने एक लम्बी निविड़ निशा होगी और काँटों के ऊपर दृढ़ पगों से उसे तब तक चलना पड़ेगा, जब तक स्वतंत्रता का निर्मल प्रभात उसके स्वागत में मुस्करा न दे। भारत दोनों अवस्थाओं के लिए तैयार है और उसका निकट भविष्य जो हो उसका भाग्य अन्त में महान् है और मानवता के अन्तिम मुक्ति-यज्ञ में उसे अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिनय करना है।

अस्थायी भारतीय सरकार बनाने के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने जिस प्रकार मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता के आगे घुटने टेक दिये और कांग्रेस के उचित सुझावों की भी उपेक्षा की, जिसके कारण कांग्रेस को अलग रहने का निर्णय करना पड़ा और अस्थायी सरकार निर्माण की योजना खटाई में पड़ गई उसे देखकर तो ब्रिटिश नीति में शंका ही होती है। एक बार फिर भारत के भाग्याकाश पर बादल घिरते आ रहे हैं। पता नहीं निकट भविष्य में क्या होगा ?

—००:००—